'नये चित्र' के कथाकारों का

यह

सम्मिलित प्रयास

महान् कथाकार स्वर्गीय [illegible]

की

पुण्य स्मृति को

सादर समर्पित

है

आमुख

सन् १९४८ से १९५२ तककी बारह प्रतिनिधि कहानियोंका यह संग्रह प्रस्तुत करते हुए, इस संकलनकी योजनाके सम्बन्धमें मैं कुछ कहना चाहता हूँ।

आधुनिक हिंदी कहानीका प्रारम्भ 'सरस्वती' मासिक-पत्रके प्रकाशन (१९०० ई०) से माना गया है। हिंदीके सुप्रसिद्ध कथा-संग्रह 'इक्कीस कहानियाँ' के सम्पादक राय कृष्णदास द्वारा किये काल-विभाजनको स्वीकार करें तो आधुनिक हिन्दी कहानीके विकासका सुविधाके साथ अध्ययन करने के लिए, उसे निम्न चरणोंके अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम चरण : १९०० से १९१० ई० तक। ये काल आधुनिक हिंदी कहानीका प्रयोग-काल था। इसमें प्रायः अंग्रेज़ी और बंगला भाषासे प्रभावित या अनुवादित कहानियाँ मिलती हैं। मौलिक कहानियोंमें 'सरस्वती' में प्रकाशित बंग महिलाकी 'दुलाईवाली' और श्री वृन्दावनलाल वर्माकी 'राखीबंद भाई' कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय चरण : १९११ से १९२० ई० तक। १९११ ई० से 'इंदु' मासिक-पत्रके प्रकाशनके साथ हिंदी कहानीका दूसरा उत्थान प्रारम्भ होता है। इस कालमें हिंदी कहानी आश्चर्यजनक रूपसे आगे बढ़ी। श्रीजयशंकर 'प्रसाद', जी० पी० श्रीवास्तव, गुलेरीजी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचंद, राय कृष्णदास, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', गोविंदवल्लभ पंत और सुदर्शन इस दशक के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं।

तृतीय चरण : १६२१ से १६३० ई० तकका समय हिंदी कहानीका समृद्धि काल था। प्रेमचंद और 'प्रसाद' की अनेक सुन्दर कहानियाँ इसी दशकमें लिखी गईं। इनके अतिरिक्त पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', भगवतीप्रसाद वाजपेई, विनोदशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक, जैनेन्द्रकुमार, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, इलाचंद्र जोशी, आचार्य ज़हूरबख्श, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', डॉ. धनीराम 'प्रेम' ने भी अपनी सुन्दर रचनाओंसे हिंदी कथा-साहित्यकी कोष-वृद्धि की।

चतुर्थ चरण : १६३१ ई० से हिंदी कहानीको एक नया ही मोड़ मिला। कहानीकारोंने कथा-वस्तुके अतिरिक्त शिल्पकी ओर भी ध्यान देना प्रारम्भ किया। मनोविज्ञानने भी कहानी में प्रवेश किया। हिंदीकी अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ इस कालके कथाकारोंकी देन हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा, महादेवी वर्मा, सियारामशरण गुप्त, राधाकृष्ण, 'अज्ञेय', उपेन्द्रनाथ अश्क आदि कहानीकार १६३५ ई० तक सुप्रसिद्ध हो चुके थे। 'इक्कीस कहानियाँ' संकलन इन्हीं नामोंके साथ समाप्त होता है। कदाचित् यही कारण है कि 'इक्कीस कहानियाँ' में १६३६ से १६४० ई० के बीच लिखने वाले कहानीकारोंका समावेश न किया जा सका।

'इक्कीस कहानियाँ' संकलनके पूरकके रूप में श्री राय कृष्णदासने १६४२ ई० में अपने सम्पादनमें एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कथा-संकलन 'नई कहानियाँ' तैयार किया[1]। 'नई कहानियाँ' संग्रहका अधिक प्रचार न हो सका, यह सत्य है; किंतु इससे उस संकलनका महत्त्व कम नहीं होता। इस संग्रह में १६३६ से १६३६ ई० तककी बारह प्रतिनिधि कहानियाँ समयानुक्रमसे दी गई हैं। कथाकार हैं—श्रीमती माधवी, सत्यवती

१. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित।

मलिक, सुधाकर दीक्षित, यमुनादत्त वैष्णव, हरदयाल 'मौजी', रामकृष्णदेव गर्ग, बलराज साहनी, कमलाकांत वर्मा, शांतिप्रसाद वर्मा, विष्णु प्रभाकर, वीरेश्वर सिंह और यशपाल। ये सब कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंसे एकत्र की गई थीं।

मैं समझता हूँ, इन नामोंको जोड़ देने पर हिंदी कहानीके चौथे दशकके कहानीकारोंकी सूची पूर्ण हो जाती है। यह सूची श्री भगवती-चरण वर्माके नामसे प्रारम्भ होती है और श्री यशपालके नामसे समाप्त होती है।

पाँचवाँ चरण : १९४१ ई० के बाद कहानियाँ लिखीं तो बहुत गईं; किंतु हिंदी कहानीपर काम लगभग नहींके बराबर ही हुआ। काम करता भी कौन? इस बीच कई कथा-संग्रह प्रकाशित हुए जो मुख्यतः कोर्स में लगानेके लिए तैयार किये गये थे और जिनमें घुमा-फिराकर एक ही नाम और एक ही कहानियाँ थीं। ये संग्रह कोर्समें लगे भी; किंतु किसी भी सम्पादकने कथाकार-सूचीको दोहराने, उसमें सुधार करने और उसे अपटूडेट बनानेकी लेश-मात्र भी कोशिश नहीं की। ठीक भी था। कोर्स में लग जानेके बाद तो पुस्तकको मोक्ष प्राप्त हो जाता है, फिर उसमें सुधार की कोई आवश्यकता कदाचित् रहती भी नहीं। अन्य प्रकाशक बड़े नाम देखकर उपन्यास और कहानी-संग्रह छापते रहे। परिणाम यह हुआ कि जो लेखक प्रबंध कर सके वे ही अपने कहानी-संग्रह छपा पाये। बाकी रह गये। हाँ, पत्र-पत्रिकाओंमें धड़ल्लेसे कहानियाँ छपती रहीं। यह स्थिति अभी तक लगभग ऐसी ही चल रही है।

पाँचवें दशक (१९४१ से '५०) में इतने अधिक कहानीकार कथा-क्षेत्र में आये हैं और इतनी अधिक संख्यामें अच्छी व सुन्दर कहानियाँ लिखी गई हैं कि दस वर्षके लम्बे कालमें केवल बीस कहानी-कारोंकी सूची बनानेसे कदाचित् सब कहानीकारों और उनकी रचनाओंके

प्रति समुचित न्याय नहीं हो सकेगा। मेरे विचारसे यदि दसकी अपेक्षा पाँच वर्षकी अवधि में हिंदी कहानीकी प्रगतिका अध्ययन किया जाय तो कदाचित् अधिक सुविधा होगी।

पुरानी पत्र-पत्रिकाओंकी फ़ाइलें देखनेपर पता चलता है कि १९४० ई० से १९४४ ई० के बीच हिंदी कहानीको कहानीकारोंकी एक बिल्कुल नई ही सूची मिली। इन कहानीकारोंने हिंदीको ढेर सारी 'प्यारी' कहानियाँ भेंट कीं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि प्रचारसे दूर रहनेके कारण ये कथाकार और इनकी कहानियाँ हिन्दी साहित्यमें शीर्ष स्थान न पा सकीं, जिनकी वह अधिकारिणी थीं और श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार जैसे प्रतिष्ठित कथाकार एवं कथा-आलोचकको अपने सद्य-प्रकाशित कहानी-संग्रह 'तीन दिन'की भूमिकामें लिखना पड़ा कि "पिछला दशक (१९४१ से १९५०) तो नये कहानी-लेखकोंकी दृष्टिसे जैसे एकदम वीराना-सा रहा।" हो सकता है चंद्रगुप्त जीके सामने स्पष्ट चित्र न रहा हो किन्तु जिन असंख्य पाठकोंने ये कहानियाँ पढ़ी हैं वे आज तक इन कहानियोंकी मधुर स्मृति नहीं भुला पाये हैं। इस कालके कथाकार श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', अमृतलाल नागर, नलिनविलोचन शर्मा, डॉ. आर्येन्द्र शर्मा (आर. ए. एस. नामसे 'माया'में प्रकाशित कहानियोंके लेखक), कमल जोशी, नरेन्द्र शर्मा, पहाड़ी, वीरेश्वर, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, निर्मला मित्र, 'नज़्म', रामचंद्र तिवारी, होमवती देवी, कमला चौधरी, सुशीला आगा, कुँवरानी तारा देवी, शोभाचंद्र जोशी, यशपाल जैन, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', रामप्रताप बहादुर, कृष्णानंद गुप्त, कौशल्या अश्क, धर्मप्रकाश आनंद, 'शिक्षार्थी' और बृजेन्द्रनाथ गौड़ की अनेक कहानियोंको मैं प्रमाण स्वरूप उपस्थित कर सकता हूँ। इन कहानियोंमें किसी 'वाद'का प्रचार नहीं था। ये सीधी-सादी कहानियाँ थीं—मानव मनकी, मनुष्यके दुःख-सुखकी, उसके सपनों, उसकी आकांक्षाओं, सफलताओं-असफलताओंकी।

१९४४ से १९४८ ई०के बीच हमें बिल्कुल नये कथाकारोंके नाम देखनेको मिलते हैं जिन्होंने अपनी कहानियों द्वारा कहना चाहा कि कहानियाँ लिखनेका कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होना चाहिए—वह प्रयोजन चाहे प्रचार ही क्यों न हो। इन लेखकोंने अपनी कहानियों और रिपोर्ताजों द्वारा प्रचार किया भी—युद्धके विरुद्ध, फ़ासिस्ट शक्तियोंके विरुद्ध, साम्राज्यवाद के विरुद्ध। ये कहानियाँ नारोंकी तरह उभरीं और नारोंकी ही तरह शांत हो गईं। तिसपर भी इन कहानीकारोंकी जो कहानियाँ प्रचार और नारोंसे मुक्त हैं वे पढ़नेमें सचमुच आनंद देती हैं। इस कालके प्रमुख कथाकार हैं—भैरवप्रसाद गुप्त, अमृत राय, रांगेय राघव, हंसराज 'रहबर', गंगाप्रसाद मिश्र, तेजबहादुर चौधरी, प्रभाकर माचवे, देवेन्द्र सत्यार्थी, मन्मथनाथ गुप्त, अविनाश चंद्र, शमशेरबहादुर सिंह, गिरीश अस्थाना, 'युगल', 'बरुआ' और कृष्णचंद्र शर्मा 'भिक्खू'।

१९४८ से १९५२ ई० के बीच इन पुराने नामोंके साथ-साथ हमें फिर कुछ नये नाम दीखते हैं। ये नाम हैं धर्मवीर भारती, कृष्णा सोबती, राम कुमार, राय आनंदकृष्ण, ओंकार शरद, जीवन नायक, 'शची', कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, भिसला मिश्र, विपुला देवी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, चंद्रकांत, राजेन्द्र यादव, परदेशी, मोहन राकेश, जयसिंह, राधाकृष्ण प्रसाद, केशवगोपाल निगम, जनार्दन मुक्तिदूत, सत्येन्द्र शरत्, नित्यानंद वात्स्यायन, चंद्रा आलक, लीला अवस्थी, कृष्णनंदन सिनहा और श्रीनरेशके। इन कथाकारोंमें से कुछकी चुनी हुई कहानियाँ प्रस्तुत संग्रहमें संकलित हैं। ये कहानियाँ कैसी हैं, यह निर्णय पाठक स्वयं ही करेंगे। सम्भव है कई कहानियोंको वे पहले किसी पत्र या पत्रिकामें पढ़ भी चुके हों।

१९५२ ई० से हिन्दी कहानीने जो उठान ली है वह सन्तोषजनक तो है ही, साथ ही भविष्यके लिए बड़ी आशाएँ भी बँधवाती है। नई पत्र-पत्रिकाओंके प्रकाशनके कारण इधर कहानियाँ धड़ल्लेसे छप रही हैं।

यह प्रसन्नताका विषय है कि कहानीकार डटकर लिख भी रहे हैं और अच्छा लिख रहे हैं। १९५२ या उसके निकटसे लिखना प्रारम्भ करनेवालोंमें प्रमुख हैं—शिवप्रसाद सिंह, मनोहरश्याम जोशी, अमरकान्त, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, फणीश्वरनाथ 'रेणु', विद्यासागर नौटियाल, शेखर जोशी, जितेन्द्र, 'दिवाकर', डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, केशवप्रसाद मिश्र, कुलभूषण, रघुवीर सहाय, हरिशङ्कर परसाई, अनन्तकुमार 'पाषाण', नन्दकुमार पाठक, प्रमोद वर्मा, वीरेन्द्रकृष्ण माथुर, कृष्णबलदेव वैद, रामदरस मिश्र, सतीश सरकार, देवेन्द्र इस्सर, 'सत्य', 'कल्पना', कुमारी उषा, मन्नू भण्डारी, इंदिरा 'नूपुर', अजितकुमार और आनन्दप्रकाश जैन। इन कथाकारोंके साथ ही पुराने खेवेके कथाकार भी (जिन्होंने लिखना बन्द नहीं किया है) अपनी सुन्दर रचनाओंसे हिन्दी कथा-साहित्यको समृद्ध बना रहे हैं। सद्यःप्रकाशित कथा-संकलन 'कहानियाँ १९५५' या 'कहानी' मासिकके जनवरी, ५५ के विशेषाङ्कको देख सहज ही कहा जा सकता है कि हिन्दी कहानीमें कोई गत्यवरोध नहीं आया है। उसका भविष्य निःसन्देह उज्ज्वल है।

×　　　　×　　　　×

१९४८ से १९५२ ई० तककी बारह चुनी हुई कहानियोंका यह संकलन आपके हाथोंमें है। यही काल इसलिए चुना गया है कि यह कहानी-पाठकके निकटतम भी है; और तटस्थतासे देख सकनेके लिए जो दूरी आवश्यक है वह भी इसके और संकलन-कर्त्ताके बीचमें है। संकलनमें बारहसे अधिक कहानियाँ भी हो सकती थीं, परन्तु बहुत आग्रहपर भी अनेक कहानीकार बन्धुओंसे उनकी अनुमति और परिचय न प्राप्त हो सके; और मुझे विवश हो उनकी कहानियोंका मोह छोड़ना पड़ा। उन पाठकोंसे क्षमा चाहूँगा जो अपने प्रिय कथाकारका नाम इसमें न देख निराश होंगे। पाठक-गण और कहानीकार बन्धु जो भी सुझाव देंगे, पुस्तकके अगले संस्करणमें यथाशक्ति

उन सुझावोंका आदरकर संकलनको सुधारनेकी चेष्टा करूँगा—मैं यह विश्वास भी दिलाना चाहता हूँ।

संग्रहमें एक कमी रह गई है जो स्वयं मुझे खटक रही है। वह है—हास्य-रसकी कहानीकी अनुपस्थिति। किन्तु बहुत खोजनेपर भी मुझे इस कालमें प्रकाशित हास्य रसकी कोई अच्छी कहानी नहीं मिल सकी। यदि पाठक कोई कहानी सुझा सकें तो उनका आभार मानूँगा।

× × ×

अन्त में एक बात और कहना चाहूँगा।

वह यह कि यह संकलन बहुत देरसे—लगभग चार वर्ष बाद—प्रकाशित हो रहा है। इस वर्ष तो १९५२ से १९५६ ई० की प्रतिनिधि कहानियोंका संकलन प्रकाशित हो जाना चाहिए; परन्तु बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जिनमें हमारा आपका कोई वश नहीं होता। समझ लीजिए, इस संकलनका प्रकाशन भी ऐसी ही एक बात थी। संकलन छप रहा है—मुझे सबसे बड़ी प्रसन्नता इसी बात की है। यदि यह संकलन और इसके उद्देश्य में निहित शुभको पसन्द किया गया तो शीघ्र ही मैं १९५२–५६ और १९४१–४४, १९४४–४८ की प्रतिनिधि कहानियोंके संकलन भी आपकी सेवामें उपस्थित करूँगा।

× × ×

कहानीकारोंका परिचय लिखनेमें मुझे भाई मनोहरश्याम जोशीसे बड़ी सहायता मिली है। उन्हें धन्यवाद दूँगा तो वे बुरा मानेंगे।

आकाशवाणी, देहली
अक्टूबर '५७

सत्येन्द्र शरत्

विषय-क्रम

नये चित्र

•

कृष्णा सोबती

कृष्णा सोबतीका जन्म पंजाबके एक सम्पन्न परिवारमें हुआ। बचपन चनाबके किनारे सुन्दरसे गाँवमें बीता और शिक्षा दिल्ली, शिमला और लाहौरमें हुई।

कृष्णा सोबतीके व्यक्तित्व और साहित्यके दो प्रधान गुण हैं—जिज्ञासा और संवेदना। जिज्ञासाने उन्हें अपने पात्रोंके मनमें गहरे पैठनेकी प्रेरणा दी है; और संवेदनाने उन पात्रोंके अन्तरतमकी भावनाओंका वास्तविक, मानवीय और मर्म-स्पर्शी निरूपण करनेकी क्षमता दी है। आपकी कहानियाँ पाठकको फूलके समान मृदुल और छन्दमय जगत्में ले जाती हैं, जो एकदम छुईमुई होते हुए भी किसी अज्ञात और अद्भुत विधानसे सन्तुलित है। कथानक चाहे आधुनिक शहरके उच्च मध्यवर्गीय जीवनसे उठाया गया हो, चाहे पंजाबके सुदूर गाँवके, उसके चित्रीकरणमें वही सादगी, वही करुणा और वही गीतिमयता प्रकट होती है। सोबतीजी की प्रत्येक रचनामें एक मन्थर सङ्गीतकी अनुगूँज विद्यमान है, जिसका आविर्भाव मानवीय भावनाओंके अन्तर्द्वन्दसे होता है।

आप बहुत कम लिखती हैं; लेकिन जो कुछ भी लिखा है प्रथम श्रेणीका है। 'सिक्का बदल गया', 'दो बूँद आँसू', 'बदली बरस गई', 'नया दिन', 'दादी अम्माँ', 'बादलोंके घेरे', 'डारसे बिछुड़ी' आदि कहानियाँ हमारे कथा-साहित्यकी निधि हैं।

• एक दिन

—कृष्णा सोबती

इस घरपरसे होकर सर्दियाँ गुज़र गईं, गर्मियाँ आईं, फिर सर्दियाँ,—बहार और फिर गर्मियाँ। सावन शुरू हो गया था। काले-कजरारे मेघोंकी आपसमें होड़ होती, बल खाती बिजली चमकती और छम, छम, छम......बरखासे धरती भीग जाती। जाने कहाँसे बादल घिरते, कहाँपर छाते, और कहाँपर बरस जाते।

दो दिनसे धूप नहीं निकली। दिन भर आकाश घिरा रहता, और रातको चाँद-तारोंके बिना दुनिया अन्धी हो गई लगती। आज शामको धर्मपाल कामसे लौटे तो चिन्तित दीख रहे थे। कुर्सीपर बैठते हुए श्यामासे गम्भीर स्वरमें बोले—"श्यामा, जगदीशका तार आया है। बीमार अधिक है......"

श्यामाका जी धकसे रह गया। "है भी तो अकेला, तुम्हें भेजनेको लिखा है।" यह सुनकर श्यामा एक हाथसे साड़ीका छोर पकड़े रही और दूसरेमें तार। एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा और फिर कुछ सोचा कि कौन उसके पास बैठा है? भाई नहीं, बहिन नहीं, माँ नहीं—और माँपर विचार रुकते ही आँखें भर आईं। इतनी देर हो गई उसे ससुराल आये पर भाईके सिवाय और कौन है जिसको उसकी खोज-खबर भी हो। अपने घरमें वह दुःखी नहीं पर अपना सुख सुनाये किसे? आँसू टपटप निकल पड़े।

"इधर आओ श्यामा, घबराओ मत। कोई ज्यादा फ़िक्रकी बात नहीं होगी, अकेला है......" श्यामा पतिके पास जाकर और भी ज़ोरसे रो दी। जैसे कहना चाहती हो, भाईका प्यार तुम नहीं समझते, मायकेमें और कोई नहीं......

रात तो किसी भी तरह कटनेमें नहीं आती। धर्मपाल बोले, "श्यामा, कल नन्दूको साथ लेकर जगदीशको देख आओ। सफ़र लम्बा है, साथ किसीका होना ज़रूरी ही है।"

श्यामाको सहारा मिला। लेकिन नारीकी समस्या क्या इतनी सहल है? एकदम सोचा—पतिको अकेला छोड़ जायगी? अकेला......नहीं। शीला...वह इस घरसे बाहर तो नहीं। पर पतिको तो उसने उस ओर मुँह करते भी नहीं देखा। पर...'पर'पर वह अटक जाती है। क्या वह पतिको पहचानती नहीं? ब्याह हुए कितनी देर हो गई है लेकिन कभी उसने अपनेको अलग नहीं पाया। कभी-कभी तो जैसे वह खीझ भी उठती है......लेकिन उस खीझमें खिंचाव कहाँ होता है। यहीं तो वह विवश है, बेबस है। असहाय-सा समझ अपनेको श्यामाने पतिकी बाहोंमें डाल दिया और एक बार फिर भाईकी बीमारीकी याद करके रो पड़ी।

दूसरे दिन सुबहसे दुपहर तक वह व्यस्त रही। कपड़े सहेजे, पतिके कपड़ोंको अलग छाँटा, उसके जानेके बाद उन्हें दिक़्क़त न हो, नौकर-चाकरोंको हिदायतें दीं। रक्खोको बहूके भाईकी फ़िकर न हो, ऐसी बात नहीं। पर कुछ दिन तो आराम वह भी चाहती है। कृत्रिम स्नेह जताकर बोली—"बहूजी, कुछ देर लेट जाओ। लम्बा सफ़र तय करना है।"

श्यामा लेट गई। सोचा, गृहस्थीके लम्बे-चौड़े धन्धे हैं। अभी तो कोई बाल-बच्चा नहीं, फिर भी सुबहसे काममें लगी हूँ। ज़रा आँख लगी ही थी कि चौंककर उठ बैठी। रक्खो अपनी कर्कश आवाज़में कह रही थी: "आइये जी, आइये जी......"

श्यामाको महरीके आनेका संशय-सा हुआ। पर यह क्या? सामने तो शीला खड़ी थी। उसे देखकर खिल तो नहीं पाई। हैरान-सी रह गई, पर शिष्टाचार! खड़ी होकर बोली "आइए न, आइए!" और फिर पास पड़े सोफ़ेकी ओर इशारा करते हुए कह उठी—"बैठिए!"

शीला बैठी तो ज़रूर लेकिन उस शिष्टाचारमें रुखाईकी मात्रा जाननेमें देर नहीं लगी। हाथके संकेतसे महरी और रक्खोको बाहर बैठे रहनेको कहा। नौकर-चाकरोंको ऐसे मौक़ोंमें मज़ा आता है पर इनसे ज़्यादा ढील अच्छी नहीं।

रक्खो और महरी बाहर चली गईं लेकिन मर्ज़ीसे नहीं। महरी तो ज़रूर अपना हक़ अधिक समझती है, पर शीला कम सयानी नहीं। क्या वह श्यामाके सामने महरीको अपना सगा जतायगी? श्यामाके चेहरेपर ज़रा संकोच और छिपी पड़ी खिन्नताका-सा भाव देखकर शीला बोली, "बहिन, नन्दूने बताया है कि वीरकी तबीयत अच्छी नहीं? क्या पहले कोई खत आया था!"

श्यामाने शीलाकी आँखोंको पढ़ सकनेका प्रयत्न करते हुए कहा, "नहीं, कल ही तार आया है। पता नहीं कैसा है? कोई पास भी है या नहीं!......"

"बहिन, घबराना मत", कहते-कहते शीलाके बोल भारी-से हो गये, "रास्तेमें ज़रा एहतियात ही बरतना। नन्दू साथ ठीक रहेगा।" फिर बाहोंमें पड़ी ढेर-सी चूड़ियोंकी ओर दृष्टि डालकर कहा—"सँभाल ही रखना ज़ेवरोंको, बाहें ढकी ही अच्छी हैं। आजकल लोगोंका कुछ पता नहीं।"

श्यामाको यह सलाह कैसी लगी शीलाने नहीं जाना। उसे जानकर करना भी क्या है? श्यामाकी नज़र न जाने क्यों घड़ीकी ओर गई— धर्मपालके आनेका समय हो गया। क्या शीला नहीं जानती? मगर श्यामा कहे किस बहाने? यह तो उसे अपने-आप ही समझना चाहिए। पर यह क्या? उसे क्या पतिसे परदा करना है? फिर भी पता नहीं क्यों, वह नहीं चाहती कि शीलाके बैठे वे यहाँ आयें। बाहरसे जूतोंकी आहट आई। श्यामा चौकन्नी हुई। शीलाने सिरका दुपट्टा ठीक किया। और परदा उठाकर धर्मपाल अन्दर आ गये। आये और देखकर ठिठक गये।

श्यामाके तेवर उभर आये और शीलाकी ऊपर उठी हुई नज़र जैसे धक्का खाकर नीचे उतर गई हो। धर्मपालके रुके हुए पैर जब वापिस लौटने लगे तो श्यामा सँभली। कुछ खीभसे, कुछ चिढ़कर बोली—"आओ न, बैठो न जी।"

धर्मपालने पत्नीकी ओर बिना देखे कुर्सी खींची और बैठ गये। पर सामनेकी ओर नज़र नहीं उठ सकी। आज शीला यहाँ कैसे ? अपनेपर जैसे गुस्सा-सा आया। वह बाहर महरी और रक्खोको देखकर दूसरे कमरेमें जा सकते थे। पर...

"गाड़ीका सब ठीक-ठाक हो गया है न ?" श्यामाने कुछ छिलती हुई आवाज़में पूछा।

"हाँ हाँ, सीट बुक हो गई है।" कहकर धर्मपालको मानो स्वयं अपनी आवाज़ अच्छी नहीं लगी। लगा, जैसे उन्हें कुछ असुविधा-सी हो रही है।

बाहर रक्खो और महरी एक दूसरेकी आँखोंमें देख रही हैं, जैसे कुछ होनेवाला है। जमाईको देखकर महरीने विजयकी दृष्टिसे रक्खोकी ओर देखा था। जाने क्यों ?

शीलाकी आँखें नीचे देख रही हैं और हाथ अशक्तसे होकर जैसे गोदीमें गिर पड़े हैं। उठ जाय, पर पाँव जैसे चल नहीं पायेंगे। लेकिन क्या उसका यहाँ बैठना ठीक है ?......वही कमरा है...वही परदे हैं... वही फ़र्श है और खुली आलमारीमें पड़े तरतीबवार वही पतिके कपड़े... पर वह और उसके पति ? वह नहीं। शीलाका दिल ऐसा हुआ जैसे किसीने छलकते पानीको निर्दयतासे ढाँप दिया हो। किसी तरह शुष्क होते जा रहे गलेसे आवाज़ निकालकर बोली, "चाची महरी !"

यह स्वर बाहर तो नहीं पहुँच सकता। श्यामाको दिलमें शायद हँसी आ गई थी। शीलापर अहसान-सा करते हुए पुकारा, "रक्खो, महरीको अन्दर भेजो।" और श्यामाके बुलाते ही शीला अपनेको झकझोरकर उठ

पड़ी। दुपट्टा एक तरफ़से बहुत नीचा हो गया था, जैसे अपनी सुध न रही हो। पर नहीं, चाल वैसी ही जमी हुई थी।

महरी अन्दर आई। देखा, बच्ची उठकर दरवाज़े तक आ गई थी और साथ-साथ श्यामा भी। "अच्छा जी"—श्यामाने ज़रा-सा मुसकराकर हाथ जोड़े, जैसे किसी पराजिताको देख रही हो।

शीलाने उत्तर दिया और सहज कण्ठसे बोली—"अच्छा, अपना ख़याल रखना और वीरकी सेहतका पता देना।" और बाहर निकल गई।

पीछेसे महरीने दुपट्टेका फ़र्शपर पड़ता छोर पकड़ लिया और पहली सीढ़ी उतरते ही उसने बच्चीको कन्धोंसे पकड़कर सहारा दिया। अब तक सब कुछ समझ गई थी। जमाई कुछ बात करते तो क्या दृष्टि इतनी जल्दी फिरा लेते।

और धर्मपाल शीलाकी ओर नहीं देख सके, नहीं देख सके। आँखें जैसे एक बार भूली हुई तस्वीरको देखना चाहती थीं, पर जब शीला उठकर श्यामाके साथ-साथ चल दी थी तो उन्होंने सिर ऊँचा किया और एकदम ऐसा लगा जैसे शीला पहलेसे लम्बी हो गई थी—लम्बी?...नहीं, उसका भरा-भरा बदन दुबला हो गया था। सिल्लेदार जूतीको रेशमी सलवार नीचे तक छू रही थी—और फ़र्शपर पड़ते हुए शीलाके पैरोंको देखकर उन्होंने सोचा कि उनमें एक ज़िमींदारा अन्दाज़ था जो अवज्ञा सहकर भी शानसे आगे बढ़ता जा रहा था।

नीचे—नीचे, दिलके बहुत नीचे किसी परदेसे उठकर वह दिन धर्मपालकी आँखोंमें उतर आया जब इसी तरह शीलाको तैयार खड़े देख उन्होंने अचानक उसे खींचकर अधीरतासे बाहोंमें भर लिया था। उसकी आँखें बन्द थीं और उनकी खुली, जैसे नारीकी मूर्च्छित-सी पड़ी सुन्दरता कह रही हो—लो देख लो।

श्यामा वापिस आकर पतिके निकट खड़ी हो गई। एक बार परीक्षाकी नज़रोंसे पतिकी ओर देखा—तब तक धर्मपाल सिगरेट जला चुके थे।

सिगरेटके फैलते-से धुएँने मानो उनके चेहरेकी असली रेखाओंको ढक लिया। श्यामाने कटाक्ष किया—"आज तो ज़मानोंके बाद घरकी बड़ी बहूको देखा है जी! क्या उससे डर गये थे? एक बात ही कर लेते बेचारीके साथ!"

धर्मपालने धुआँ छोड़ते हुए सोचा—उससे क्या डरता? डरानेको क्या तुम कम थीं? प्रत्यक्ष ज़रा हँसकर बोले—"मुझे क्या बात करनी थी? बात तो वह तुमसे करने आई थी?"

"जगदीशका हाल पूछ रही थी और कहती थी वहाँ जाकर उसका पता देना।"

शीलासे यह सुनकर पता नहीं धर्मपालको जीमें कैसा लगा, पर उन्होंने कुछ कहा नहीं। बातको बदलकर बोले—"सामान सब बाँध लिया है न?"

"हाँ, सब तैयार है।"

श्यामा पतिके विषय-परिवर्तनका अर्थ नहीं समझी। धर्मपालने कलाई पर बँधी घड़ीकी ओर देखा और व्यस्त होकर कहा—"और जो कुछ करना है कर डालो। समय अधिक नहीं।"

श्यामाने कुछ अनोखेसे ढंगसे जवाब दिया—"सब ठीक कर लिया है। तुम्हारे सब कपड़े इस ओर वाली अलमारीमें रख दिये हैं। किसी गर्म कपड़ेकी ज़रूरत होगी तो उस बड़े बक्समेंसे निकलवा लेना।"

श्यामा एक क्षण चुप रही और कुछ अन्दर-ही-अन्दर छिपा लेनेके प्रयत्नमें चूड़ियोंको बार-बार हिलाते हुए रो पड़ी। टप-टप-टप! धर्मपालने देखा कि ऐसे आँसू एक बार पहले भी किसीके आँखोंसे बहे थे। क्यों आज उसे किन्हीं और आँखोंकी याद आ रही है? उठकर कन्धोंसे पकड़कर कहा—"श्यामा, पागल हो गई हो क्या? जल्दी लौट आऊँगी।" फिर प्यारसे थपथपाकर कहा—"इतना छोटा दिल है?"

श्यामा पतिकी गोदीमें मुँह छिपाकर रो दी। धर्मपाल उन रेशमी-रेशमीसे बालोंको चूमना चाहते हुए भी रुँधकर रह गये। उन्हें लगा कि

उनकी सुगन्धि बहुत तेज़ थी...और उस तेज़ीका आभास उन्हें आज कितनी देरके बाद हुआ।

× × ×

कल बादल फटे थे आज फिर घिर आये। बादलोंके परदोंके-परदे आसमान पर चढ़े आ रहे थे। दुपहरकी कड़कड़ाती सफ़ेदी न जाने कहाँ खो गई थी। कभी हल्की-फुल्की हवाएँ झूमते-झामते पेड़ोंको चूमकर परदोंको हिला जातीं। शीला सोफेपर अधलेटी थी। महरीने परदे उठा दिये थे। और फ़र्शपर बैठी-बैठी उलझी हुई ऊनको सुलझा रही थी। उस दिन ऊपरसे आकर बच्ची निढाल-सी होकर बिस्तरपर लेट गई थी, और घण्टों रोती रही थी। चाचीने चुप करानेका कोई प्रयत्न नहीं किया। सिर्फ़ पास बैठी बचीके सिरपर हाथ फेरती रही। और उस दिनसे बच्ची अनमनी-सी लग रही है। आज सुबह चाची बोली---"बच्ची, यह ऊन पड़ी हुई है। कुछ शुरू कर लो न। सरदियाँ आ रही हैं। ज़रा जी भी लगा रहता है।"

"हूँ", कर बच्ची चुप रह गई। गद्दियोंके सहारे बैठी थी। सिरपर कपड़ा नहीं था। गहरे नीले रंगके कपड़ोंमें चेहरेका रंग और भी धुला हुआ लगता था। बैठी-बैठी सोच रही थी---श्यामा कैसे व्यंगसे मुसकराई थी। जैसे कह रही हो---तुम्हारा बड़प्पन आज कितना छोटा हो गया है। और वह अन्दर आकर ऐसे ठिठक गये थे, जैसे कोई ग़लत जगह आ गया हो। आदमी कितने बेदर्द होते हैं! बात नहीं, तो क्या आँख उठाकर देख नहीं सकते थे? लेकिन क्यों वह चाहती है कि पति उसे एक बार देखते तो---एक बार---वह दयाकी भूखी है कि तरस खाकर पति उसपर इतनी-सी मेहरबानी करें!......

अपनी बेबसी, पतिकी निर्दयता और सौतकी वह उपहासजनक हँसी आँखोंमें उतर आई और अपने हाथोंको आँखोंपर रखकर शीला सिसकने लगी। महरीका हाथ रुक गया। वह जानती है कि जो दिल पतिको देखे

जिना दो सालसे चुपचाप ज़ब्त पड़ा था, उसे निर्मोही पतिकी एक छाया धकेलकर नीचे बहाये लिये जा रही है। बच्चीके हाथोंको आँखोंसे अलग करके बोली—"माँ बलिहारी जाय, रोयें तुम्हारे दुश्मन।" फिर झट क्रोध-भरे लहजेमें बोली—"हाय, हाय, अक्ल मेरी ही मारी जाती है, कपड़े भी निकाले तो यह ? अच्छी, भली जानती हूँ जब-जब यह पहनती हो, दिन अच्छा नहीं गुज़रता फिर भी सुबह यह ले आई। बुढ़िया होनेको आई, पर समझ नहीं।" कहते-कहते उठ खड़ी हुई।

शीलाने सब समझा। जबसे होश सम्भाला है वह महरीके हाथों पली है। लाड़-चाव, ज़िद—सब करती रही है। आज महरीको अपनेको फट-कारते सुनकर जाने कैसा लगा। कैसे वह उसे दिलासा देती रही है। किसी-न-किसी बहाने जी लगाती रही है। एक पलको अलग नहीं छोड़ती। महरीकी कृतज्ञतासे जी भर आया। वह साथ न होती तो अब तक वह इस चार-दीवारीमें जीवित रहती ?

महरी वापिस लौटी और शीलाको हाथसे उठाते हुए बोली—"उठो, बच्ची, मैं सदके जाऊँ। कपड़े बदल डालो। बच्ची, मुझपर गुस्सा न किया करो। सिर सफ़ेद हो गया है, अब क्या अक्ल ठिकाने रहेगी ?" फिर महरी बच्चीको कपड़े बदलवाने ले गई। क्या बच्ची नहीं समझती ? आज चाची चाहती है कि शीला उसपर गुस्सा करे, जितना करे वह बुरा न मनायगी पर जिस अधिकारहीन आँचलमें वह अपने आँसू बहाये जा रही है, वहाँ उन्हें झेल लेनेवाला कौन है ?

बिना विरोध किये शीलाने कपड़े बदल डाले। यह सूट कभी उसे कितना पसन्द था ! पर आज उसकी पसन्दमें जान ही कहाँ है ? महरीने हाथमें लिये दुपट्टेको चूमकर बच्चीके हाथोंपर डाल दिया। वह कितनी व्यस्त हो, कितनी अस्वस्थ हो, इन छोटी-छोटी बातोंको नहीं भूलती। बच्चीने आगे दुपट्टा डाला और फिर कुछ सोचकर बोली—"चाची, सोऊँगी..."

चाचीने पलंगपर तकिये लगा दिये और बोली—"ठीक है बच्ची। कुछ देर आराम कर लो! कैसा बरसाती दिन है!..." कुछ कहते-कहते रुक गई।

बच्ची लेट गई थी। चाची कहने लगी थी बरसातमें बेरियों पर डाले हुए झूलोंकी बात, पर झट ख्याल आ गया कि सुनकर बच्ची कहाँ और-और ख्याल दौड़ाती रहेगी। चुप ही रहे तो अच्छा।

बच्ची लेटी हुई थी और चाची पास बैठी धीरे-धीरे बच्चीके हाथ सहला रही थी। बच्चीको ऐसे पड़े देखकर चाचीने ममताभरे लाड़ले स्वरमें पूछा—"बच्ची, क्यों क्या बात है? बोलो मेरी बच्ची!"

शीला क्या बोले? पर इस स्वरकी अवज्ञा वह नहीं कर पायगी। चाचीका हाथ पकड़कर बोली—"चाची, जी अच्छा नहीं।"

"यह क्या मैं नहीं जानती, मेरी बच्ची?" चाचीका मातृत्व जैसे अन्दर-ही-अन्दर चीत्कार कर उठा। जी अच्छा रह ही कैसे सकता है? यह उमर और यह दुःख! जी हुआ कि वह भी बच्चीके साथ मिलकर रो दे, पर कितनी पागल है वह? बच्चीको थपथपाते हुए बोली—"सो जाओ, बच्ची, तबियत हल्की हो जायगी।"

ऊपर घरकी विस्मृता बहूके पति कुर्सीपर पड़े-पड़े न जाने क्या-क्या सोच रहे थे। आज धर्मपाल कामसे जल्दी आ गये थे। जानते थे कि श्यामा नहीं है। पर अधिक देर दफ्तर नहीं बैठ सके। श्यामाको गये अभी तीन-चार दिन ही तो हुए हैं। कल तार आया था—जगदीशको निमोनिया हो गया है। अकेले छोड़नेवाली हालत नहीं। कमरे कैसे सूने लगते हैं? और आज दोपहरको धर्मपाल ठीकसे खाना नहीं खा सके। पत्नीसे उदास होकर न खाया हो, ऐसी बात तो नहीं। फिर भी भाभीको

सन्दिग्ध छाया जैसे आगे पड़े खाने पर बुद्धिमत्तासे छाई रहती है। अभी-अभी जब सोनेके लिए नौकर उन्हें कपड़े दे रहा था तो वह सोच रहे थे, ये ज़रा-ज़रासे काम औरतोंके हाथोंसे कितने अच्छे लगते हैं।

बाहर पानी तेज़ हो गया था। बादलोंकी गर्जना और बिजलीकी कड़कड़ाहट जैसे कानोंको चौंकाये जा रही थी। धर्मपालने हाथका सिगरेट नीचे फेंका और उठकर पलंग पर जा लेटे। सोचा, आदमीकी दिन-चर्यामें भी औरतका कितना बड़ा हिस्सा है, और श्यामा......उसने तो जैसे उन्हें अपनी बाहोंसे बाँध डाला है। जाती बार कैसी रो रही थी! झट ध्यान आया, उस दिन शीलासे कैसे अचानक मिलना हो गया? पर—पर धर्मपाल नहीं चाहते कि वे इस बातको सोचें। उन्हें जैसे अपने हाथोंसे किये किसी अन्यायकी याद आ जाती है। और अब तकियेपर सिर रखते ही आज ढाई सालके बाद पहली बार खयाल आया कि शीलासे क्यों इतनी दूर हो गये। वह बिचारी तो जानती तक न थी। और फिर श्यामाको ले आनेपर कोई बखेड़ा नहीं उठाया, कोई झगड़ा नहीं किया और वे? उन्होंने एक बार उसे देखा तक नहीं? कैसे रहती है, कहाँ रहती है? इस अर्सेमें एक बार रुपया तक नहीं मँगवा भेजा। शायद शाहजीके यहाँसे आता होगा—और अबतक शाहजी अपनी बेटीको ले नहीं गये। खयाल आया, शीलाको बिदा करते शाहजीने उनका माथा चूम-चूमकर कहा था—"बेटा! इसने तुम्हारा लड़ पकड़ा है, इसे निभाना।" कैसा निभाया है उन्होंने ...? धर्मपालने करवट ली। क्या वह श्यामासे कम सुन्दर थी? पर बम्बईमें न जाने उन्हें क्या हो गया था? उन्हें लगा जैसे वे बदल रहे हैं। सोचा, क्या श्यामाका अभाव तो नहीं? नहीं, नहीं शीलाकी वह दुबली देह जैसे चीखकर कह रही थी। दिमागमें जैसे हलचल-सी हो गई। अब वे नहीं लेट सकेंगे।

धर्मपाल उठकर खड़े हुए। ढीला कोट पहना और सीढ़ियोंसे नीचे उतर चले। एक क्षण संकोचने मानो पैर जकड़ दिये। पर यह तूफ़ान!

क्या यह रुक सकेगा ? क्या कहेंगे शीलासे ? नहीं, कुछ नहीं । कहनेकी ज़रूरत नहीं होगी ।

नीचे आँगनमें आकर देखा, कोई नौकर-चाकर नहीं था । आँगन पार किया । परदे नीचे पड़े थे । परदा उठाया तो सामने फ़र्शपर महरी बैठी कपड़ोंकी तह लगा रही थी । बच्ची सो गई थी । इसलिए दबे पाँवों बाहर आकर वह काम-धन्धेमें लगी थी । जमाईको देखते ही आँखें ऊपर नहीं उठीं । मानों कहती हो—रिश्ता ऐसा है, क्या कहूँ ? पर तुम यहाँ कैसे ?... धर्मपाल भी महरीकी ओर ठीकसे देख नहीं पाये । दबी-सी आवाज़में बोले—"महरी !..."शायद कुछ पूछना चाहते थे, पर महरी हाथके कपड़े हाथमें लिये, बिना कुछ कहे-सुने बाहर चली गई ।

धर्मपाल एक क्षण परदेको पकड़े खड़े रहे । सोचा, न जाने शीला क्या कर रही होगी । कोई आहट तक नहीं आ रही । अन्दर पहुँचे । सोफ़ा खाली था । सामने पलंगपर सिमटी-सिकुड़ी-सी शीला सोई पड़ी थी । सिरपर बाँह रक्खी थी । पास एक ओर महीन दुपट्टा पड़ा था । जैसे भारी लगनेपर उतार दिया गया हो । मुँहपर बिजलीकी रोशनी पड़ रही थी । वही चेहरा है, वही बाहें और गोरे स्वच्छ पाँव । शीला ! मगर नहीं, यह आवाज़ गलेसे नहीं, उनके दिलसे निकली थी और वहीं फैल गई थी । शीला ! शीला बेखबर पड़ी थी । सोच-सोचकर इतनी थक गई थी कि बन्द पलकोंके अन्दर कोई स्वप्न भी नहीं देख पाई ।

धर्मपाल पास आकर खड़े हो गये । क्या यह उचित है ? जैसे किसीने चेता दिया हो । नहीं, धर्मपाल आगे बढ़े—सिरपर रखी बाँहका स्पर्श किया । हल्केसे उसे पकड़ अपने सशक्त हाथोंकी उँगलियाँ शीलाके बालोंमें डुबो दीं ।

सिरपर पड़ते हुए दबावसे शीला चौंक गई । सोचा, चाची हैं । आँखें खोलीं—और खुली रह गईं । विश्वास नहीं आया, शायद वह स्वप्न देख

रही है। उसका हाथ पतिके हाथमें है और वह किसी निर्जीव पत्थरकी तरह पड़ी है। धर्मपालने झकझोरते हुए काँपती आवाज़से कहा—
"शीला !"

आवाज़ शीलाको हिला गई। पतिके उदास-मलिन मुखकी ओर शिकायत-भरी नज़रोंसे झुके-झुके देखा और विवश होकर रो पड़ी।

"शीला !..."

शीला रोये जा रही थी। लेकिन आँसूकी बूँदें सिरहानेपर नहीं पतिके वक्षपर पड़ रही थीं। बाहर बादल बरसे जा रहे थे और धरती भीग रही थी; और भीगी धरतीके वक्षमें एक आलोड़न उठ रहा था—शायद निर्माणकी प्यास ही...

× × ×

वह रात कितनी गीली थी, कितनी गहरी थी! गर्जते हुए बादलोंका निनाद सुनकर भी बिजली चमकती जा रही थी। एक महीन-सी रेखा किस गतिसे कजरारे बादलोंको उन्मत्त किये जा रही थी। और पतिकी गोदमें पड़ी कलतककी बेबस और दुर्बल नारी आज रोकर भी हँसती जा रही थी। और धर्मपाल पत्नीको हौलेसे पुकार भर लेनेके सिवाय और कुछ नहीं कह सके। शीला! शीला! शीला!—और इस नामसे वह सब जुड़ गया जो दो साल पहले किसी अनिश्चित कालके लिए टूट गया था, बिछुड़ गया था। लेकिन क्या सचमुच ही संज्ञाका इतना मूल्य है? देहसे अलग, देहसे भिन्न कौन-सी संज्ञा होती है जो ऐसी रातमें किसी आँखोंमें नाच जाती है? क्या दोनों इस बातको नहीं जानते? इतने अनजान नहीं थे। फिर भी किन्हीं दो भटके हुए पुराने साथियोंकी तरह एक-दूसरेको थामे हुए वे सोच रहे हैं कि हमेशा नहीं तो आज तो कम-से-कम इस तूफ़ानी रातमें वे इकट्ठे हैं। सिरपर भयानक तूफ़ानी रात थी। लेकिन स्वयं उनमें अधीरता नहीं थी, जीवनका उष्ण रक्त था जो स्थिर गतिसे बहता

जा रहा था और बहकर उस चिरन्तन प्यासको बुझा रहा था जो हाड़-मांसके साथ उसमें जागी थी।

रात कैसे आई और कैसे बीत गई? शायद बहुत लम्बी थी। शायद बहुत छोटी थी। शीला नहीं जानती कि रात कैसे कट गई, धर्मपाल नहीं जानते रात कैसे कट गई। लेकिन नारीके अन्तरके नीचे—सबसे नीचे—पड़ी ममता जानती थी कि रात कैसे गुज़र गई। सच है कि वह रातको पकड़ नहीं पाई लेकिन वह शून्य नहीं थी। उसमें रस था, उसमें जीवन था, जीवनका अर्थ था। जो आज नहीं तो वर्ष भरके बाद माँकी गोदीमें किलकारियाँ लेगा। और माँका आँचल उसे ओट किये हुए अन्धेरी रातोंसे, कष्टोंसे और अपशकुनोंसे बचाता जायगा।

सुबह धर्मपाल जब जगे तो शीला नहा-धोकर तैयार हो गई थी। महरीने बाहरवाले कमरेसे ही बच्चीको चायकी ट्रे पकड़ा दी। नहलाते-नहलाते चाचीने बच्चीसे कहा था—"जल्दी कर लो बच्ची, फिर चायका इन्तज़ाम करूँ। जमाई तो सुबह-सुबह चायके आदी हैं।" शीला सलज्ज हँस दी थी। "चाची, तुम्हें फ़िकर है? किसी नौकरसे कह दो न?" चाचीने भेद-भरी दृष्टिसे बच्चीको देखकर कहा था—"न, न बच्ची। तुम इन नौकर-चाकरोंको नहीं जानतीं। चाय रखने आयेंगे, बीस बातें बनायेंगे बाहर जाकर। मैं ही लाऊँगी।" फिर तनिक रुककर उसने कहा था, "बच्ची तुम्हें पकड़ा दूँगी। तुम्हीं अन्दर ले जाना...।" "क्यों क्यों, चाची? क्या तुम......" उसने चाचीसे पूछना चाहा था। बीच हीमें चाची बोली, "तुम भोली हो बच्ची। सुबह-सुबह उठकर क्या जमाईको मेरा ही मुँह देखना है?" शीला खुलकर हँस दी थी—"ओह चाची, क्या मैं सोते-जागते तुम्हें नहीं देखती?"... चाचीने कहा था—"वह और बात है बच्ची! तुम नहीं समझती, लाओ ज़रा पैरोंको मलूँ कितनी खुश्की हो गई है...।" शीला समझ गई थी कि चाची अन्दर जाकर धर्मपालको सङ्कोचमें नहीं डालना चाहती। मन-ही-मन हँसकर वह चाचीके प्रस्तावसे

सहमत हो गई थी। चाचीने ट्रे पकड़ा दी थी और शीलाने उसे मेज़पर ला रखा था और पतिके सिरहाने ज़रा झुक कर धीरेसे पतिके बालोंको छूती हुई मृदु कण्ठसे बोली—"उठना नहीं जी ? दिन चढ़ आया।"

धर्मपालने आँखें खोलीं, शीला बिल्कुल पास खड़ी थी। भरकर देखा, कैसी निखरी-सी लगती है ! जैसे बीती हुई रात उसे रुलाकर हल्का कर गई थी। खींचकर पास बिठा लिया। आँखोंमें संकोच नहीं, दूरी नहीं। शीला !...शीला लजा गई। बैठे-बैठे चाय बनाकर प्याला हाथमें लिये बोली—"लीजिये न।"

"नहीं, रख दो।" धर्मपाल कह उठे। शीलाने पतिकी ओर देखा। उसमें आहत-सा अभिमान था। प्याला मेज़पर रखकर बोली—"क्यों, क्या अभी उठोगे नहीं ?" और पतिकी बाँहपर हाथ रख दिया। धर्मपाल कुछ क्षण देखते रहे और फिर आँखोंकी कोरोंसे दो बूँदें ढुलक गईं। शीलाने अपने हाथसे आँखें ढक दीं और दूसरेसे पतिके बाल सहलाते हुए बोली—"सुबह-सुबह यह क्यों ? अपनेसे नाराज़ हो रहे हो ?"

"नहीं", धर्मपाल रुँधी-सी आवाज़में बोले—"तुमसे क्या कहूँ शीला ? मैं नहीं जानता।"

बीती हुई रातके बाद भी कुछ रहा-सहा मलाल पतिके इन दो आँसुओं से धुल गया। स्वयं ही सोचा, नारी इन बातोंमें कितनी कच्ची होती है ? लेकिन इतना पश्चात्ताप काफ़ी नहीं। पतिके वक्षपर सिर रखकर बोली, "कैसी बातें करते हो ? तुमसे आज तक क्या मैंने शिकायत की ?"

इसका जवाब धर्मपालने कुछ नहीं दिया। वैसे सोचते थे कि एक उपालम्भ ही दिया होता। पर उसने तो जवाब नहीं माँगा और आज भी तो उस बातको कैसे बचाती जा रही है। जैसे आजके दिनमें वह उन सब बातोंको नहीं मिलाना चाहती।

शीलाने पलभर उत्तर की, नहीं तो कुछ सुननेकी, प्रतीक्षाके बाद

कहा—"उठो, जी! छोड़ो इस सोचको, आज क्या काम पर नहीं जाओगे?"

"नहीं!"

"अच्छा!" शीला हँस पड़ी। पुरानी बात याद आ गई। जब वह नई-नई ब्याही आई तो पति अक्सर सुबह देर तक सोते रहते। उठनेके लिए कहती तो कहते—शीला, आज काम पर जानेको जी नहीं चाहता। वह शरमाकर मुसकरा देती। शरारतसे कहती—लाला जी तो कुछ नहीं पूछेंगे। और धर्मपाल कुछ खीजकर उठ बैठते। और वह मन ही मन मुसकराया करती। जैसे कहती हो—दिनमें तो छोड़ा करो।

"तो आज भी कामपर नहीं जाओगे?"

धर्मपालने सिर हिलाया—"नहीं।"

"अच्छा तो नहा-धोकर फिर लेट जाना। कपड़े ऊपरसे मँगवा देती हूँ। रक्खे होंगे ही ऊपर।" यह कहकर शीला महरीको बुलाने ही लगी थी कि धर्मपाल बोले—"नहीं उसे मत भेजो, अपने आप जाकर निकाल लाओ।"

धर्मपालके स्वरमें अनुरोध था। जैसे पत्नीको उसके अधिकारकी याद दिला रहे थे। ऊपर जानेकी अनिच्छा, वह भी श्यामाकी अनुपस्थिति में—पर 'न' करनेमें भी शीलाको संकोच-सा हुआ। अनमनी-सी होकर उठी। महरीको बुलाकर कहा—"महरी, उनके कपड़े लाने हैं ऊपरसे। चलो तुम्हारे साथ चलती हूँ।"

चाचीने एक बार बच्चीको खुली दृष्टिसे देखा और ज़रा-सा हँसकर बोली—"चलो, बच्ची!" दिलमें कह रही थी—इस कामके लिए नहीं जाऊँगी।

शीलाने कमरेमें प्रवेश किया। उस दिन भी तो यही सब कुछ था। कितना पराया लगा था। शायद श्यामा इसकी मालकिन लग रही थी।

और आज ? कपड़ोंकी अलमारी खोलते-खोलते लगा कि दो वर्षके बाद उसे फिर अपना अधिकार मिल गया है । वे दो वर्ष, जो कटनेमें नहीं आते थे, आज कितने छोटे हो गये हैं ! कपड़ोंको तरतीबवार रखनेवाले हाथोंसे आज पहली बार शीलाको ईर्ष्या-सी हुई । और कपड़े निकालकर जब शीला नीचे उतरी तो पाँवोंमें गति थी, और चालमें घरकी स्वामिनी होनेका रोब था । बाँह पर रक्खे कपड़ोंको देखकर महरीने मन ही मन कहा—भगवान् करे, बड़ी-बड़ी उम्र हो बच्ची की और जमाईकी भी। आज क्या वह जमाईको बच्चीसे अलग देख सकती है ?

शीला कपड़े लिये आकर खड़ी हुई तो धर्मपालको लगा कि वे पुराने दिन लौट आये हैं और इस बीचके दो साल इस भूली-सी कड़ीसे निकल कर कहीं अलग होकर अदृश्य हो गये हैं। और वह और शीला, टूटा हुआ तार जैसे फिर जुड़ गया है......

रामकुमार

अर्थशास्त्रमें एम० ए० कर, आठ महीने शिमलाके एक बैंकमें काउण्टरके पीछे बैठ चुकनेके बाद साहित्य, संगीत और चित्रकलाके अनुरागी पच्चीसवर्षीय रामकुमारने अनुभव किया कि कलासे बचना सम्भव नहीं। अतएव चित्रकलाका अध्ययन करने सन् ५१ में कलाकारोंकी राजधानी पेरिस पहुँचे और फिर आधुनिकताकी खोज कर दो वर्ष बाद स्वदेश लौटे। तबसे चित्रकारी, साहित्य-सेवा, शान्ति-आन्दोलन और देश-विदेश-यात्रा में समय व्यतीत करते रहे हैं। संगीतका चक्कर तो कभीका छूट चुका है; इधर लिखने-लिखानेके प्रति भी वह पहले-सा उत्साह नहीं है। अब तो बस चित्रकारीका ही जोश है। चित्रोंमें जितनी जटिलता है, कहानियोंमें उतनी ही सादगी; अलबत्ता प्रभाव की दृष्टिसे दोनों समान रूपसे सशक्त हैं। दोनों ही मनमें एक गहरी उदासी और एक कुहरीला स्मृत्याभास छोड़ जाते हैं।

आपके 'घर बने, घर टूटे' और 'देर-सबेर' दो मौलिक उपन्यास; तथा 'एक अपमानित स्त्री के पत्र', 'वार्ड नम्बर ६', और 'डोरियन ग्रे का चित्र' तीन अनूदित उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

• हुस्ना बीबी

—रामकुमार

हुस्नाने करवट बदलकर सामने दीवारपर लगी घड़ीपर नज़र डाली, तो दस बजनेमें कुछ ही मिनट बाक़ी थे; परन्तु घड़ीकी सुइयों का महत्त्व उसकी ज़िन्दगीसे अब अलग हट गया था। दिनमें कई बार देखनेपर भी वह चुपचाप उन्हें घूमते हुए देखा करती थी। क्योंकि उन बेजान सुइयोंमें गति थी। थोड़ी देर बाद वहाँसे नज़र उठाकर उसने अपने दोनों गोरे-गोरे पतले हाथ ऊपर उठाते हुए एक अँगड़ाई ली जिससे उसके हाथमें पड़ी लाल और काली चूड़ियाँ एक बार झनझना कर चुप हो गयीं। हुस्नाने एक हाथसे घुटनोंपर पड़ा काली और सफ़ेद धारियों वाला कम्बल अपने गले तक घसीट लिया। पलंगकी दाईं ओर दीवारपर उमरख़ैयामका एक चित्र टँगा हुआ था, जिसके फ़्रेम में लगे शीशेपर दरार आ गयी थी। उस चित्रको दीवारपर लगे कितने साल बीत चुके थे! महीनोंकी धूल चित्रके फ़्रेम और शीशेपर चिपटी हुई थी। चित्र ही क्या, कमरेमें जो चीज़ एक बार जिस स्थान पर रख दी जाती थी, फिर उसे वहाँसे उठानेकी कभी नौबत नहीं आती थी। तीन-चार साल बाद जब कभी मकान-मालिक घरमें सफ़ेदी करवाता, तो सब सामान ज़बरदस्ती उठाया जाता था और उसके बाद शाहीदन अपनी मर्ज़ीसे जहाँ सामान रख देती, फिर उसे बदलने वाला कोई व्यक्ति घरमें नहीं था। कोनेमें पड़ा ड्रेसिंग टेबल, जिसके शीशे और पीछेकी दीवारके खाली स्थानमें मकड़ियोंने अनगिनत जाले बुन लिये थे, खिड़की और रोशनदानके बीचमें किसी हिरणके काले-काले दो सींग, दरवाज़ेके पास एक कीलपर टँगा बरसों पुराना एक कैलेंडर, कोनेमें रखी शाहतूतकी लकड़ीकी बनी तीन पैरों वाली कुर्सी, जिसके

दोनों ओर शेरोंके मुँह बने थे—सब मानो अपने-अपने स्थानों पर बैठे एक-दूसरेकी ओर खुली आँखोंसे ताका करते थे। अभी पलंगसे उठ कर क्या होगा? गुदगुदे गद्दों और मुलायम कम्बलोंकी गरमाईमें पाँव पसारकर पलंगपर लेटे रहनेमें कितना सुख मिलता है या करवट बदल कर एक हाथ सिरके नीचे दबाये और दूसरेको अपने धड़कते सीने पर रखकर कितना सुकून मिलता है! जब आँखें कमरेके एक कोने या एक वस्तुसे ऊब जाएँ, तो दूसरी देखने लगो और फिर तीसरी...और फिर सबसे ऊब जाने पर आँखें बन्द कर लो तब एक नई दूसरी दुनिया दिखाई देने लगती है...यह सोच कर हुस्नाके होंट मुसकरा उठे, मानो उस नई दुनियाकी एक लहर उसके बदनमें दौड़ गयी हो। और आखिर उठकर भी क्या होगा? उसे कहीं बाहिर नहीं जाना है, शामको किसी का इन्तज़ार उसे नहीं करना है। उस्तादजीका तबला नहीं बजेगा, जमाल खाँ सारंगीके तारोंको नहीं छेड़ेंगे और उसे...उसे गाना नहीं पड़ेगा...कोई उससे फ़लाँ गज़ल गानेकी ज़िद नहीं करेगा। वे दिन बीत गये जब तीन बजेसे ही घंटों वह ड्रेसिंग टेबलके सामने बैठी हीरे और पन्नेकी अँगूठियाँ, नौरत्नोंके चमकते हार, जड़ाऊ कंगन, सफ़ेद मोतियोंके लटकते झूमर और खुदे हुए फूलोंसे सजा कमरबन्द पहनकर बार-बार शीशेमें अपना मुँह और शरीर देखा करती थी। वह कौन-से 'शेड' की लिपस्टिक लगाये? गफ़ूर मियाँको हल्की गुलाबी रंगकी लिपस्टिक पसन्द थी और टण्डन साहब गहरा सुर्ख रंग पसन्द करते थे—चाहे वह होटोंपर लगी लिपस्टिकका हो; चाहे नाखूनोंकी लालीका; चाहे गालोंके रूज़का हो; चाहे गुलदस्तेमें सजे गुलाबके फूलोंका। बालोंमें वह कौन-सा तेल डाले? 'यू डी कोलोन' या 'ईवनिंग इन पेरिस' या फिर सादा चमेलीका तेल जो मिस्टर दरको बहुत पसन्द था। और फिर उसका गाना शुरू होनेसे पहले उसकी महफ़िलके लोग आपसमें गरमागरम बहसें किया करते थे कि वो ज़िगर की 'काम आखिर जज़्बये

बेइख़्तियार आ ही गया...' गज़ल गाये या कोई दादरा या ग़ालिबके शेर गुनगुनाये। वह मुसकराती हुई उन सबकी ओर कनखियोंसे देखा करती और उसका दिल बाँसों उछला करता। थोड़ी देर बाद उस्तादजी तबलेको घुमा-घुमाकर उसे ठोंकते, जमाल खाँ सारंगीके तारोंको सुरमें लाते और उसके गलेसे धीमी आवाज़ दिलकी गहराईमें डूबी हुई निकलती। मानो वे शराबके पहले घूँट हों जिनका नशा धीरे-धीरे चढ़ने लगता है। महफ़िल जम जाती, लोग झूमने लगते। कोई आँखें बन्द करके और कोई कमरेकी दीवारोंकी ओर ताकते हुए। उस्ताद जीकी उँगलियाँ तबलेपर तेजीसे थिरकने लगतीं और उसकी गज़लके शेर धीरे-धीरे लोगोंके दिमागों और दिलोंमें उतरने लगते।

बाहिर अँधेरे की चादर धीरे-धीरे गाढ़ी होती जाती और लोगोंकी दिनकी ज़िंदगीका शोरगुल सोई रातके सन्नाटेमें डूब जाता। आसमानमें तारोंका मेला लगने लगता और कमरेमें ज़िंदगीकी गति प्रतिक्षण तेज़ होती जाती, मानो रातको चुनौती दे रही हो। दीवार पर लगी घड़ीकी दौड़ती सुइयोंकी ओर किसीका ध्यान न जाता। दो गानोंके बीच थोड़ी तफ़रीह होती, ह्विस्की और रमकी बोतलें खुलतीं, पासकी हसन मियाँकी दूकानसे बर्फमें दबी सोडेकी बोतलें मँगायी जातीं और महफ़िलके लोग गज़लपर बहस करते, हुस्नाके सोज़-भरे गलेकी तारीफ़ें करते। चाँदीके वरक़ोंमें लिपटे पान एक-दूसरेकी ओर बढ़ते और सिगरेटके धुएँसे कमरा भर उठता। हुस्ना अपने कमरेमें जाकर ड्रेसिंग टेबलके शीशेके सामने अपने चेहरेपर पाउडर और गालोंपर रूज़ लगाती, होठोंकी लालीको और गहरा करती और जूड़ेमेंसे खिसकी हुई बालोंकी लटोंको फिर कंघेसे पीछे धकेलती। फिर एक और नई गज़ल। सारंगीके तार दिलके उठते तूफ़ानोंसे टकराकर और भी ज़ोर से बज उठते...।

"हुस्ना बेटी, अब उठ। क्या अभी तक सो रही है? देख, सूरज

रेलकी लाइनोंके पीछे छिप गया है।" शहीदन हुस्नाकी बन्द आँखों की ओर क्षण-भर तक देखती रही और फिर उसने पासकी तिपाईपर चायकी ट्रे रख दी। चीनीके बरतनोंकी खटाखट सुनकर हुस्नाने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। शहीदनकी ओर देख कर उसके सूखे होंठ एक बार थोड़ा-सा मुसकरा उठे। तकियेको पीठके पीछे टिकाकर वह बैठ गयी, "चाची, यह तुम कैसे जान लेती हो कि कौन-से वक्त मुझे किस चीज़की ज़रूरत पड़ती है। मैं अभी-अभी चायके बारेमें ही सोच रही थी। शराब मुझे कभी पसन्द नहीं आयी। गफ़ूर मियाँ ज़बरदस्ती करके एक-आध पेग पिला देते थे। लेकिन मैंने अपनी तबीयतसे कभी नहीं पी। मुझे तो गरम-गरम चायका एक प्याला..."

शहीदन चुपचाप प्यालेमें चाय बना रही थी। उसके पके सफ़ेद बाल उसकी ओढ़नीमेंसे झाँक रहे थे। हुस्नाकी बातें वह चुप-चाप सुनती रहती थी, जिसका सिर-पैर उसकी समझमें नहीं आता था। वह केवल इतना जानती थी कि पाँच साल पहले हुस्ना जो बातें करती थी अब वे बदल चुकी हैं। हुस्ना मानो उससे बातें नहीं करती थी। उसको कमरेमें देखकर वह ज़ोर-ज़ोरसे अपनेसे बातें करने लगती थी जो अकेलेमें खुद सोचती रहती थी।

"चाची, इस शामके सन्नाटेमें कमरेका सूनापन मेरे दिलके सूनेपनसे मिल जाता है और मैं सोचने लगती हूँ कि अब शायद इसकी वीरानगी कभी खत्म नहीं होगी।" थोड़ी देर चुप रहकर वह हँसने लगी और चायका घूँट पीकर उसने फिर कहा, "अभी लेटे-लेटे मैं देख रही थी—शायद वह मेरा ख्वाब था—कि शामके झुटपुटेमें नीले आसमानमें लौटते हुए परिंदोंकी टोलियाँ अपने बसेरोंकी ओर उड़ी जा रही हैं। उन्हें अपने घर पहुँचनेकी जल्दी थी। शायद उनके नन्हे-नन्हे बिना परोंके बच्चे उनका इन्तज़ार कर रहे थे...लेकिन मेरा

बसेरा कहाँ है ?...मुझे कभी उड़कर कहीं पहुँचनेकी जल्दी नहीं होती। बस, यह पलंग और मैं, और मेरे कमरेकी दीवारें।"

शहीदनने पलंगसे नीचे लटकते हुए कंबलको ऊपर उठाते हुए कहा, "हुस्ना, मेरी रायमें हम कहीं बाहिर चलें...इस शहरसे बाहिर... इस मकानसे बाहिर। यहाँ सारा दिन लेटे-लेटे तू अजीब बातें सोचा करती है; ऐसे कब तक ज़िन्दगी चलेगी ? हुस्ना, तू नहीं जानती कि तू कितनी बदल गयी है !"

शहीदनकी बात सुनकर हुस्नाने उसकी ओर बड़े ध्यानसे देखा और फिर प्यालेको ट्रेपर रखकर बोली, "चाची, ऐसी बात तुम्हारे दिमाग़में कैसे आती है ? इतने सालोंसे तुम मेरे पास रहती हो; लेकिन अभी तक तुमने मुझे नहीं समझा।" और भी एक लम्बी साँस लेकर बोली, "कोई भी मुझे नहीं समझ सका, न ग़फ़ूर मियाँ, न टंडन साहब, न मिस्टर दर। हर साल गर्मियोंमें सब मुझसे पहाड़ चलनेको कहते थे—कोई मंसूरी, कोई शिमला, कोई नैनीताल आनेकी दावत देता था; लेकिन मैं कभी इस शहरसे बाहर नहीं गयी और भला जा भी कैसे सकती थी !"

शहीदन चुपचाप हुस्नाके चेहरेकी ओर देख रही थी। उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखोंमें वह कौन-सी गहराई है जिसके भीतर वह कभी झाँक नहीं सकी। इन सूखे होठोंपर यह कौन-सी उदासी या अतृप्त सुख है, जिसे वह कभी समझ नहीं पायी। आखिर हुस्ना सारे दिन पलंगपर लेटी क्या सोचा करती है ? वह कभी कोई किताब नहीं पढ़ती। कभी उसने बाज़ारसे अख़बार नहीं मँगवाया। रेडियोके गानोंसे उसे नफ़रत है। तो वह कौन-से जाल बुना करती है !

हुस्नाने एक सिगरेट सुलगा ली। सिगरेटका धुआँ उसे पसन्द था और कभी-कभी एकके बाद एक सिगरेट सुलगाकर वह नाक और मुँहसे

बन्धनों को तोड़कर एक नया अध्याय शुरू कर सकेगी? हुस्ना सहम-सी जाती, उसका दिल ज़ोर-ज़ोरसे धड़कने लगता। क्या बीते दिनोंको आख़िरी साँसों तक वह कभी भुला सकेगी? अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीचमें भला खाइयाँ कैसे खोदी जा सकती हैं। वह आज भी अतीत में ज़िन्दा है और उसीके सहारे भविष्यका निर्माण करती है, उससे रिश्ते तोड़ लेना तो अलग रहा। ज़िन्दगीमें उसने नये रास्तोंकी तलाश नहीं की। एक रास्तेपर आगे बढ़कर पीछे लौटना और एक नये रास्ते पर चल पड़ना उसे असम्भव प्रतीत होता था। लेकिन यह रेलगाड़ी दिनमें तीन बार यहाँसे गुजर ज़ाती है, कितने ही अपरिचित शहरों, नदियों, बियाबान जंगलोंको पार करती हुई न जाने कहाँ पहुँच जाती है। काश, ज़िन्दगी भी रेलगाड़ी-जैसी रफ्तार के साथ आगे बढ़ती!

दूर दायीं ओर रेलकी लाइन पार करनेका पुल था, जिसके बीचों-बीच एक बत्ती जगमगा रही थी। मानों अँधेरे आसमानमें कोई सितारा टिमटिमा रहा हो। हुस्नाने ऊपर आसमानकी ओर देखा, तारे धुँधले थे; परन्तु दिखाई दे रहे थे। हुस्ना खिड़कीके सामनेसे हट गयी। उसने दीवारपर लगा स्विच दबा दिया। रोशनीमें कमरेकी प्रत्येक वस्तु अपने पुराने इतिहासके साथ उभर पड़ी। वह इस कमरेके नक्शेको बदल देगी। आख़िर इन सब सामानोंको यहाँ सजाये रखनेसे क्या फ़ायदा? यह हाथियों वाली कुर्सी गफ़ूर मियाँ शायद सात-आठ साल पहले ईदके दिन दे गये थे और उस वक्त वह इसे अपने कमरेमें देखकर खुशीसे पागल-सी हो गयी थी; अब इसकी एक टाँग टूट गयी है और चमड़ेके घिस जानेसे गद्दीका कपड़ा दिखाई देने लगा है। उसकी यहाँ भला क्या ज़रूरत है! वह इसे हसन मियाँको दे देगी, वह इसे अपनी दूकानपर रख लेंगे...चाची कहती थी कि पड़ोस की 'कोहेनूर फ़रनीचर वर्क्स' का मालिक उसके पचास-साठ रुपये दे देगा, लेकिन वह उसे बेचेगी नहीं; इस कमरेकी कोई भी चीज़ वह नहीं बेच सकती। और यह उमरखय्याम

का चित्र दस साल पहले मुनीरने बनाकर मेरे जन्मदिनपर मुझे दिया था...इस पर महफ़िलके लोगोंने कितने ही दिनों तक बहस की थी। चाची कभी कमरेकी धूल नहीं झाड़ती...और ये हिरणके बलखाते हुए सींग, सोफा-सेट, ड्रेसिंग टेबल, चाँदीका पीकदान और फर्शपर बिछा तार-तार होता यह कालीन, मानो ये सब अजायबघरकी चीज़ें हों! लेकिन वह कब तक इस अजायबघर के अन्दर बन्द रह सकती है? क्या वह भी इन्हीं बेजान चीज़ोंकी तरह इस अजायबघरकी एक चीज़ नहीं बन गयी है!...

हुस्ना ड्रेसिंग टेबलके सामने रक्खी कुर्सीपर धपसे बैठ गयी। उसका सिर घूमने लगा था। उसे कमरेकी प्रत्येक वस्तु घूमती हुई नज़र आ रही थी। थोड़ी देर तक शीशेमें अपना चेहरा देखती हुई वह स्तब्ध, मूर्तिवत् बैठी रही। उसने झुककर पाससे अपना चेहरा देखनेकी कोशिश की, लेकिन शीशा धुँधला दिखाई देने लगा। उसकी काली आँखें चुप थीं। वह मुसकराती; लेकिन उसकी आँखें खामोश रहीं और उसके होंठ घायल पक्षीकी भाँति फड़फड़ाते ही रह गये। उसने क्रीमकी डिब्बी खोली; लेकिन क्रीम सूख गयी थी। खुरचने पर थोड़ा-सा चूरा हथेलीपर उँगलियों से रगड़कर उसने अपने चेहरेपर मला और फिर पाउडर लगाने लगी। लिपस्टिककी डिब्बी खोलकर सूखे होठोंको लाल किया और एक बार फिर झुककर उसने अपना चेहरा शीशेमें देखना चाहा। फिर उसने कंघी उठाकर अपने बालोंपर फेरी; लेकिन दिन भरके बिखरे अस्त-व्यस्त बालोंमें वह उलझकर रह गयी। उसने अपनी चोटी खोल दी और मुलायम बालोंपर कंघी करती हुई वह उन्हें सहलाती रही, रेशमी-भूरे बाल कंघी करनेसे चमकने लगे। उसने अपने बालोंको बड़े ध्यानसे देखा; परन्तु उनमें एक भी सफ़ेद बाल उसे दिखाई नहीं दिया। नहीं-नहीं, वह अभी जवान है, खूबसूरत है, उसके चेहरेपर अभी तक एक भी झुर्री, एक भी शिकन नहीं पड़ी है। उसकी आँखोंके नीचे

गड्ढोंका कालापन अभी नहीं उतरा है, उसका एक भी बाल सफ़ेद नहीं हुआ है। वह गा सकती है। उसकी आवाज़ अब भी पहले-जैसी ही सुरीली है। हुस्ना गुनगुनाने लगी—

तुम्हारी याद के जब ज़ख्म भरने लगते हैं
किसी बहाने तुम्हें याद करने लगते हैं।

वह खुशीसे चिल्ला पड़ी, उसे अपने शरीरमें एक तेज-सी लहर दौड़ती जान पड़ी और उसने अपनी नसोंमें ताज़ा खून दौड़ लगाते हुए महसूस किया।

"चाची...चाची..." हुस्ना ज़ोरसे चिल्लायी।

शहीदन बावर्चीखानेसे दौड़ी। हुस्नाकी चीख सुनकर डरसे वह काँप उठी थी। "चाची!" कहकर हुस्नाने दरवाज़ेके पास खड़ी शहीदनके गलेमें अपनी दोनों बाहें डाल दीं और उसकी आँखोंमें बड़े पाससे झाँकते हुए कहा, "चाची, मैंने अभी-अभी महसूस किया कि इन पाँच सालोंमें मैंने जिन्दगीसे प्यार करना सीखा है। हाँ चाची, मैं सच कह रही हूँ, मुझे यहाँकी हरएक चीज़से मुहब्बत है। तभी तो मैंने ग़फ़ूर मियाँकी कुर्सी, उमरखय्याम की तसवीर, यह ड्रेसिंग टेबल, सारा सामान जो अपने कमरेमें रक्खा हुआ है...मैं अभी मरना नहीं चाहती..." शहीदनका मुँह हैरानीसे खुलाका खुला रह गया था। हुस्नाके चेहरे पर क्रीमके टुकड़े, होठोंकी लाली और उसके खुले बालोंको देखकर शहीदनके मुँहसे भयके कारण आवाज़ तक नहीं निकली। वह ज़ोरसे हुस्नाको अपने सीनेसे चिपटा लेना चाहती थी। जिससे वह उसके सीने की धड़कनको सुन सके परन्तु उसके बूढ़े हाथोंकी सारी शक्ति मानो आज समाप्त हो गयी थी।

"मैं अभी-अभी एक गज़ल गा रही थी चाची, मेरी आवाज़में अभी तक पहले-जैसा ही सोज़ है। मैं उस गज़लका दर्द खुद भी नहीं सह

सकती। इसीलिए मैं कभी अकेलेमें नहीं गाती क्योंकि तब मेरा दर्द बँटाने वाला कोई नहीं होता..." हुस्ना मानो अपने-आप से ही बातें कर रही थी।

"हुस्ना, यह सब तू क्या कह रही है..." आखिर शहीदनके मुँह से आवाज़ निकली, "यह तूने अपना क्या भेष बना रक्खा है, तभी मैं कहती थी कि कुछ समयके लिए हमें शहरसे बाहर चले जाना चाहिए। नहीं तो तू पागल हो जायेगी।" शहीदनने हुस्नाके चेहरेको अपने हाथोंमें पकड़ कर कहा।

परन्तु हुस्नाने मानो शहीदनकी बात सुनी ही नहीं। वह सामने खुली खिड़कीकी तरफ़ देखती हुई कहने लगी, "आज मेरे गानोंका दर्द बँटाने वाला कोई शहरमें नहीं रहा। वे सबके सब चले गये। मैं अकेली ही उनकी यादोंके साथ इस अजायबघरमें रह गयी और रोज़ ही उन बीती बातोंको दुहराना मेरा काम रह गया है।" फिर शहीदनके अपने पास खड़े रहनेका अहसास पाकर वह चिल्ला पड़ी—"चाची, यह सब क्यों हुआ ?" और वह शहीदनके गलेसे लिपट गयी और फूट-फूटकर रोने लगी। शहीदनकी आँखोंसे भी आँसू टपक रहे थे। वह चुपचाप हुस्नाके रेशमी बालोंको अपने हाथोंसे सहला रही थी। ढाढ़सका एक शब्द उसके मुँहसे कोशिश करनेपर भी नहीं निकल सका। कमरेमें सन्नाटा था, शामका वीभत्स सन्नाटा। केवल हुस्नाकी सिसकियोंकी आवाज़ घरके सूनेपनमें एक भयानकता और उदासी भर रही थी।

उस रात काफ़ी सर्दी थी। दिसम्बर का आरम्भ था। दिन भर वर्षा हुई थी और नीला आसमान बादलोंसे ढँका रहा था। हुस्नाने दिन का खाना खाने के बाद अपने कमरेकी चिमनीमें शहीदनसे लकड़ियाँ सुलगवा ली थीं और उनकी गरमाईमें वह दिन-भर लेटी रही थी।

कभी उसे नींद आ जाती थी और कभी नींदमें देखे हुए सपनोंके विषयमें जागकर उस क्षण तक सोचा करती थी जब तक उसकी आँखें फिर बन्द नहीं हो जाती थीं। सोते और जागते वक्त वह सपने ही देखा करती थी। शहीदन उसकी दिनचर्यापर हैरान रहती थी और कभी-कभी उसकी चर्चा हसन मियाँसे भी किया करती थी; परन्तु वे चुपचाप शहीदन-की बातें सुनने के अलावा और कुछ भी नहीं कहते थे। वह बावर्चीखानेमें अकेली बैठी-बैठी हुस्नाके विषयमें सोचकर आँसू बहाती रहती थी। जब कभी वह आटा, दाल, सब्जी वगैरह बाहरसे खरीदने जाती तो मुहल्लेके लोग और पुराने दूकानदार बड़ी गम्भीरतासे हुस्नाके विषयमें पूछा करते थे। उनकी गिरती हुई आर्थिक दशा भी इन लोगोंसे छिपी नहीं थी। जहाँ पहले मौसमके नये-नये फल और सब्जियाँ, भोलारामकी दूकानसे ह्विस्की और रमकी बोतलें, हसन मियाँकी दूकानसे सोडेकी दर्जनों बोतलें और बर्फ़की सिलें आती थीं वहाँ अब शहीदन चुपकेसे लोगोंकी आँख बचा कर दूकानोंके पाससे गुज़र जाती थी। उसने कभी हुस्नासे इस विषयमें चर्चा नहीं की। हुस्नासे भी घरकी स्थिति छिपी नहीं थी, दो-तीन महीनेसे वह शहीदनके कहनेपर अपनी गहनोंकी संदूकड़ीमेंसे कोई गहना निकालकर उसे दे देती थी।

हुस्ना एक आराम-कुर्सीपर चिमनीके पास बैठी लकड़ियोंसे निकलती लपटोंकी ओर देख रही थी। उसके घुटनोंपर एक कम्बल पड़ा हुआ था। हुस्नाने कमरेकी बत्ती नहीं जलायी थी। आगकी लपटोंमें चिमनीके आसपासकी जगह जगमगा रही थी। सामने दीवार पर लगी उस्ताद जीकी फोटोकी ओर हुस्ना कुछ देर से निहार रही थी, जिसका आभास उसे कुछ देर पहले ही हुआ था। उनकी छोटी-छोटी सफ़ेद दाढ़ी, घनी-घनी मूँछें, सफ़ेद कपड़ेका कुरता और गम्भीर आँखें उसके सामने थीं। दुनियामें शायद सबसे ज़्यादा इज़्ज़त वह उस्तादजीकी करती थी।

पता नहीं, वे शहरमें हैं या कहीं दूसरी जगह चले गये। उनसे आखिरी मुलाक़ात कुछ महीने पहले हुई थी। समय उसे कभी याद नहीं रहता था, कब दिन महीनों, और महीने सालों में बदल जाते, उसका लेखा-जोखा वह नहीं रखती थी।

उस दिन तड़के ही शहीदन उस्तादजी को सीधे उसके कमरे में ले आयी थी। वह चारपाई पर लेटी हुई थी। उन्हें देख कर वह उठ कर बैठ गयी। उस्तादजी का कुर्ता जेबके पाससे फटा हुआ था। उनकी जूतीपर धूल जमी हुई थी मानो कितने ही दिनोंसे पालिश न हुई हो; परन्तु चाहकर भी वह उन सबके विषयमें पूछ नहीं सकी थी। वह चुपचाप उनकी आँखों और हिलती हुई छोटी-सी सफ़ेद दाढ़ीकी ओर देखती रही थी।

"मैंने सोचा कि बहुत दिनोंसे तुझसे मिला नहीं हूँ बेटी, सो आज यहाँ तेरे हाल-चाल पूछने चला आया; लेकिन तू बड़ी दुबली नज़र आ रही है हुस्ना, बीमार तो नहीं है?"

यही सवाल तो वह भी उस्तादजीसे करना चाहती थी। हुस्नाने हँसकर कहा था, "ज़िन्दगी कभी नहीं रुकती उस्ताद जी। कभी-कभी हम ज़िन्दा नहीं रहते। मेरा मतलब है कि साँसें लेते हुए भी असली मायनोंमें ज़िन्दा नहीं रहते। लेकिन ज़िन्दगी तब भी पुरानी रफ्तार के साथ आगे बढ़ती जाती है। मरनेसे पहले एक बार मैं हिसाब लगाकर देखूँगी कि मैं कितने साल ज़िन्दा रही हूँ।"

शहीदन चाय बनाकर ले आयी थी। हुस्नाने एक प्याला बनाकर उस्तादजी के हाथ में थमाते हुए पूछा था, "और आप अपनी कहिए।"

उस्तादजीने एक लम्बी साँस खींचते हुए कहा था—"अपनी क्या कहूँ? कट रही है; लेकिन उस 'कटने' में मज़ा नहीं आता। सफ़ेदी में यह हालत होगी, यह कभी सपनेमें भी नहीं सोचा था। पहले लोग घरों

पर आकर गाना सिखानेकी खुशामदें किया करते थे, तब लोगोंको असली और नकली संगीत की पहचान थी। लेकिन अब ज़माना बदल गया है। आजकल लोग गीत पसन्द करने लगे हैं, फिल्मी ढंगके बाजारू गीत, जिन्हें ताँगे वाला उनसे अच्छा गा सकता है। बस, जी चाहता है कि कमरा बन्द करके अन्दर बैठा रहूँ; लेकिन वह भी नामुमकिन है..."

उस्तादजी हुस्नाकी नज़र बचाकर कमरेमें चारों ओर छिपी निगाहोंसे देख रहे थे। यहीं पलंगके पास कोनेमें बैठकर वे तबला बजाया करते थे। लेकिन अब खिड़कियोंपर लगे पर्दोंके रंग धुँधले पड़ गये थे। एक कोनेमें तानपूरा, तबलोंकी जोड़ी और सारंगी रक्खे हुए थे जिनपर कितनी ही धूल जमी हुई थी। उन्होंने अनुमान लगाया कि महीनोंसे उन्हें बजाया नहीं गया है। दीवारोंके ऊपर मकड़ियोंके जाले थे। जाते वक्त धीमे स्वरमें उस्तादजीने अपनी आँखें झुकाये कहा था, "हुस्ना बेटी, एक बात कहनी है।" हुस्ना उनके चेहरेकी ओर बड़े ध्यानसे देख रही थी। "तू मेरे पोते सलीमको जानती है न ? उसको दो महीनोंसे मियादी बुखार है; और मेरे पास इलाज करनेके लिए पैसे नहीं हैं..." और फिर वे एकाएक चुप हो गये थे। आँखें ऊपर उठाने की हिम्मत उनमें नहीं थी।

हुस्ना चुपचाप उस्तादजीके चेहरेकी ओर देखती रह गयी थी। वह उन्हें बचपनसे जानती थी। जब वे उसे हारमोनियम पर 'सा रे ग म' सिखाया करते थे और कहा करते थे कि एक दिन वह हिन्दुस्तानकी सबसे मशहूर गायिका बनेगी। आज भी जब कभी वह उस्तादजीकी उन बातोंको याद करती है तो उसे हँसी आने लगती है। आज उनके पास सलीमके इलाजके लिए पैसे नहीं हैं। वह सलीमको दुनियामें सबसे अधिक प्यार करते हैं। उसे पाल-पोसकर इतना बड़ा उन्होंने ही किया है और उसके अलावा उनका दुनियामें और कौन है ?

उसने अपने कमरेको दीवारपर लगी आलमारी खोली। नीचेके खानेकी काम वाली एक संदूकड़ीमें से उसने सोनेके दो कंगन निकाले और लौटकर उस्तादजीके हाथोंमें थमा दिये थे।

उस्तादजी गहनोंको देखकर चौंक उठे थे। "नहीं-नहीं हुस्ना, ये मैं नहीं लूँगा। मैंने तो सोचा था कि पचास-साठ रुपये तुम उधार दे देती...मैं तुम्हारे गहने...।"

हुस्नाके चेहरेको देखकर कुछ अधिक कहने का साहस उन्हें नहीं हुआ। थोड़ी देर बाद वह स्वयं ही धीमे स्वरमें बोली—"रुपये मेरे पास नहीं हैं। अगर आपने ये कंगन न लिये तो मैं कभी आपको अपना मुँह नहीं दिखलाऊँगी..."

कभी-कभी कोई लकड़ी जलते समय चटाख-पटाख करने लगती थी। उस्तादजीकी फोटो देखते-देखते कब हुस्नाकी आँख लग गयी, उसका पता उसे नहीं चला। वह स्वप्न देखने लगी—वह एक गजल गा रही थी:

काम आखिर जज़्बये बे-इख़्तियार आ ही गया।
दिल कुछ इस सूरत पै तड़पा, उनको प्यार आ ही गया॥

यह शेर उसे बहुत ही पसन्द था और वह अक्सर इसे गाया करती थी। पास ही उस्ताद जी बैठे तबला बजा रहे थे और जमालखाँकी उँगलियाँ सारंगीके तारोंपर मीड़ दे रही थीं। उसकी गज़ल सुननेके लिए सामने लोगोंकी बेतहाशा भीड़ थी, हजारों, लाखोंकी तादादमें एक दूसरे से सटे बैठे थे। वे चुपचाप उसका गाना सुन रहे थे, कोई 'वाह वाह' नहीं कह रहा था। कमरा वही था, दीवारपर वही मुनीरका उमर-खय्यामका चित्र था। हिरनके सींग थे, शेरोंके मुँहवाली कुर्सी थी। तभी भीड़में उसे परिचित चेहरे दिखाई देने लगे। वे गफ़ूर मियाँ थे और उनके पास ही टण्डन साहब थे—वे ध्यानसे आँखें फाड़-फाड़कर

हुस्नाकी ओर देख रहे थे। उनके चेहरे ग़मग़ीन थे। ग़ुस्सेसे तमतमा रहे थे। लेकिन आखिर यह भीड़ कहाँसे आयी? वह भीड़को देखकर घबड़ाने लगी और उसके माथेपर पसीनेकी बूँदें चमकने लगीं, उसकी आवाज़ क़ाँप रही थी; लेकिन फिर भी वह गाती जा रही थी। एकाएक तबला और सारंगी एक धमाकेके साथ बन्द हो गये। उसने अपनी नज़र फेरी तो उस्तादजी और जमालखाँ अपने स्थान पर नहीं थे। उसने भी गाना बन्द कर दिया। वह अकेली रह गयी थी। भीड़में से कुछ लोग ज़ोर-ज़ोर चिल्लाने लगे, कुछने एक आध पत्थर भी हुस्ना पर फेंका। उसने चीखना चाहा, लेकिन उसके मुँहसे कोई आवाज नहीं निकली। उसने महसूस किया, मानो कोई उसका गला दबा रहा हो।

"हुस्ना...हुस्ना..."शहीदन उसका कंधा पकड़ कर उसे हिला रही थी।

थोड़ी देर तक आँखें खोले हुस्ना अपने चारों ओर देखती रही, वह कहाँ है? उस भीड़का क्या हुआ?

"हुस्ना, तुम्हें क्या हो गया है? सोते-सोते तू गाने लगती है। मैं कल ही हकीमजी को बुला लाऊँगी। देख लेना, वे भी तुझे बाहर जाने की राय देंगे। हवा-पलटी तेरे लिए सबसे ज्यादा ज़रूरी है। ख़ुदा जाने क्या मंजूर है..." यह कह कर वह हुस्नाके घुटनेके पास बैठ गयी और उसने उसके कंबलमें अपने पाँव ढँक लिये। हुस्नाने कुछ नहीं कहा। वह चिमनीमें सुलगती लकड़ियोंकी ओर देखती रही। धीरे-धीरे स्वप्नकी दुनियासे उतर कर वह वास्तविकतामें आ रही थी। उसने अपने सिरमें दर्द महसूस किया; लेकिन शहीदनसे इस विषयमें उसने कुछ नहीं कहा, नहीं तो फिर वह कहती कि वह बीमार है। वह बहुत दिनोंसे सोच रही थी कि कोनेमें पड़े उस तानपूरे, तबलेकी जोड़ी और

सारंगीको इस कमरेसे उठाकर कहीं और रखवा देगी या किसीको दे देगी। यहाँ तो रोज़ इन पर धूल जमती जाती है और शहीदनने कभी इनके महत्त्वको नहीं जाना, लेकिन उस कोनेको खाली देखकर उसका दिल फट जायेगा। उसने कभी सिर्फ़ अपने ही लिए नहीं गाया और शायद भविष्यमें भी कभी गा नहीं सकेगी। बचपनमें उस्तादजीको खुश करनेके लिए मेहनत किया करती थी, रागोंकी सरगमें तैयार किया करती थी और फिर ग़फ़ूर मियां, टण्डन साहब, मिस्टर दर और महफ़िलके दूसरे लोगोंके लिए गाया। अगर वे उसके गानोंकी दाद न देते, उसके एक-एक शेरपर दर्दसे उमड़ते सीनेको थाम न लेते, तो शायद कभी-कभी उसके गानोंमें इतना सोज़ नहीं आ सकता था। वह शामसे ही सोचा करती थी कि आज कौन-सी ग़ज़ल सुनायेगी; लेकिन हमेशा उसकी आँखोंके सामने महफ़िलके लोगोंकी मूर्तियाँ घूमा करती थीं। कौन किस शेरपर 'वाह वाह' करता है और कौन-सा शायर किसे सबसे ज़्यादा पसन्द है। एक-एक शेर पर उसका दिल भी गहरे दर्द और कसकसे तड़पने लगता था; लेकिन उसके दिलकी सारी तड़पन उस संगीतके प्रेमियोंके धड़कते दिलोंके साथ सुरमें सुर मिलाकर ही उछला करती थी, अगर वे सब उसके सामने न बैठते या फिर उसके गानोंका उनपर कोई असर नहीं होता तब वह कभी गा नहीं सकती थी।

"चाची, क्या अब भी पानी बरस रहा है?" हुस्नाने पूछा। शहीदन खिड़कीकी ओर देखती हुई बोली, "शायद अब बूँदा-बाँदी हो रही है। आज दिन भर पानी बरसता रहा है। सरदी भी बाहर बहुत बढ़ गयी है।"

कभी-कभी आसमानमें बिजली चमकनेसे कमरेकी दीवारें भी चमक उठती थीं। बादलोंका गरजना जारी था। तभी बाहर रेलकी लाइनोंपर गाड़ी छुक-छुक करती हुई भागी जा रही थी। उसका स्वर तेज़ होकर फिर

धीमा होता गया और अन्तमें बारिशकी बूँदोंके 'टपाटप' में विलीन हो गया। "सर्दियाँ मुझे गर्मियोंकी बनिस्बत ज़्यादा पसन्द हैं। गरम बिस्तरेमें लेटते ही मैं अपने खयालोंमें खो जाती हूँ, और आज तो कमरेमें आग भी जल रही है। सोनेसे पहले चिमनीमें और लकड़ियाँ डाल जाना चाची। जब तक मुझे नींद नहीं आती तब तक कमरेमें मैं आगकी लपटोंको देखना चाहती हूँ...और यह खिड़की भी खोल दो।" फिर थोड़ी देर तक वह छतकी ओर ताकती हुई कहने लगी—"टण्डन साहबको मसूरी बहुत पसन्द था। गर्मियाँ वहाँ बिताकर वे मुझे पहाड़ोंके हाल बताया करते थे। वे बर्फ़से ढँकी पहाड़ोंकी सफ़ेद चोटियाँ! वहाँ शहरों-जैसे पीपल और जामुनके पेड़ नहीं होते। वहाँ चीड़के पेड़ोंकी घनी डालियाँ होती हैं। और..."

तभी किसीने नीचे ज़ीनेका दरवाजा खटखटाया। हुस्ना बातें करते-करते चुप हो गयी। शहीदन भी अपने पैरोंसे कम्बल हटाकर चौंककर खड़ी हो गयी—"इस रातमें कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है? मैं नीचे जाकर देखती हूँ..." शहीदनने अपने दुपट्टेसे सिर अच्छी तरह ढँक लिया और बालोंको हाथोंसे सिरपर जमाती हुई नीचे उतर गयी।

हुस्ना चुपचाप उठ खड़ी हुई और धीरे-धीरे क़दम बढ़ाती हुई खिड़कीके पास जाकर खड़ी हो गई। उसने खिड़की खोल दी और हवाके साथ-साथ बारिशकी कुछ बूँदें भी उसके चेहरेपर आ टपकीं। हवासे उसके बाल उड़ने लगे। बाहर घुप अँधेरा था। सड़कपर लगे बिजलीके खम्भोंकी रोशनीमें गीली सड़कपर बने हुए बारिशके छोटे-छोटे तालाब चमक रहे थे। दूकानें बन्द हो गई थीं। हसन मियाँकी दूकानमें भी अँधेरा था। दूर अँधेरेमें पुलके ऊपर बिजलीकी धुँधली रोशनी टिमटिमा रही थी।

शहीदन हाँफती हुई दौड़ी आयी और कमरेका दरवाज़ा ज़ोरके झटकेके साथ खोलकर अन्दर घुसते ही चिल्लाकर बोली, "हुस्ना राज़ब, हो गया! ग़फ़ूर मियाँ अपने एक दोस्तके साथ तशरीफ़ लाये हैं। कहते

थे कि आज ही बम्बईसे यहाँ थोड़े दिनोंके लिए किसी कामसे आये हैं।" यह कहकर उसने कमरेकी बत्ती जला दी। हुस्ना खिड़कीकी तरफ़ पीठ किये शहीदनकी ओर देख रही थी। गफूरमियाँके आनेकी ख़बरसे उसकी उदासीनतामें कोई अन्तर नहीं आया था। शहीदन उसके पास आकर कहने लगी, "मैंने उन्हें नीचेकी बैठकमें बिठा दिया है; लेकिन बैठकमें मनों धूल जमा हो गई है। मुझे पहले पता होता तो मैं उसकी सफ़ाई कर देती। वे अपने मनमें क्या सोच रहे होंगे?" फिर हुस्नाका कन्धा पकड़कर बोली—"तू तैयार हो जा, हुस्ना। वे तुझे बुला रहे हैं। तू अपने कपड़े बदल ले। तुझे ऐसी हालतमें देखकर न जाने गफ़ूर मियाँ क्या सोचने लगें। थोड़ी देरमें मैं उन्हें यहीं ले आऊँगी..."

हुस्ना धीमे स्वरमें मानो अपने-आपसे ही कह रही थी, "गफ़ूर मियाँ तशरीफ लाये हैं। इस अँधेरी बरसातमें...क्यों? पाँच साल बाद वे क्यों मेरे दरवाज़ेपर आजके दिन आये हैं? नहीं, मैं किसीसे नहीं मिलूँगी। मैं उन पुराने दोस्तोंमें से किसीसे भी मिलना नहीं चाहती। गफ़ूर मियाँ से कह दो चाची, कि हुस्ना मर गयी...उनसे कह दो कि उनकी हुस्नाको मरे पाँच साल बीत चुके हैं..."

शहीदनका मुँह आश्चर्यसे खुलाका खुला रह गया। बड़ी कठिनाईसे वह कुछ देर बाद बोल सकी, "तू क्या कह रही है हुस्ना? तू पागल हो गयी है। इन पाँच सालोंमें मैं जानती हूँ तूने कितनी बार गफ़ूर मियाँको याद किया, उनकी बातें मुझसे करते कभी तेरी ज़ुबान नहीं थकी।" और फिर हुस्नाके कन्धेको हिलाते हुए उसने तीव्र स्वरमें कहा..."नहीं बेटी, यह नहीं हो सकता, चल, थोड़ा-सा क्रीम-पाउडर लगा ले, मैं नये कपड़े निकाले देती हूँ।"

तभी कमरेका दरवाज़ा खुला और गफ़ूर मियाँ दरवाजेके बीचमें दिखाई दिये। वे सफ़ेद चूड़ीदार पैजामा और काली गरम शेरवानी पहने थे।

उनकी टोपीमें से उनके अधपके बाल दिखाई दे रहे थे। ठुड्डीके नीचे उनकी हल्की दाढ़ी नज़र आ रही थी; क्षण भर तक वे दरवाजेपर खड़े-खड़े हुस्नाकी ओर देखते रहे और फिर तेज़ीसे आगे बढ़कर उन्होंने हुस्नाका हाथ पकड़ लिया..."तुम्हें क्या हुआ है हुस्ना? क्या तुम बीमार थी? तुमने मुझे खत क्यों नहीं लिखा? मेरे खतका कोई जवाब भी नहीं दिया?"

हुस्ना चुपचाप क़ालीनकी ओर देखती रही। उसकी साँस ज़ोर-ज़ोर-से चलने लगी थी। वह महसूस कर रही थी कि अब शायद ज़ोरसे बिजलीके कड़कनेकी आवाज़ होगी और वह फ़र्शपर गिर पड़ेगी।

"जवाब दो हुस्ना, यह तुमने अपनी क्या हालत बना रक्खी है?" हुस्नासे अधिक नहीं सहा गया। वह ज़ोरसे रो पड़ी और गफ़ूर मियाँसे लिपट गयी। उसकी सिसकियोंमें बाहरकी टपाटप गुम हो गयी। गफ़ूर मियाँ चुपचाप उसे अपने सीनेसे चिपटाये उसके बालोंपर हाथ फेरते रहे। उनकी आँखें भी भर आयी थीं और गलेसे आवाज़ नहीं निकल रही थी। वे कमरेकी दीवारोंकी ओर ताकते रहे, बिजलीकी रोशनीमें खिड़की-पर लगे धुँधले परदे, फटा क़ालीन, मैले कम्बल, खाली ड्रेसिंग टेबल, मेज़पर रखे फूलदानमें काग़ज़के फूल और धूलसे भरा तानपूरा, तबले, सारंगी देखकर उन्होंने वास्तविकताका अनुमान लगानेकी कोशिश की।

थोड़ी देर बाद दोनों आगके पास बैठे थे। एक ही कम्बलमें दोनों के पैर घुटनों तक छिपे हुए थे। गफ़ूर मियाँ सूनी आँखोंसे ध्यानसे हुस्नाकी ओर देख रहे थे। वही चेहरा था, वही बड़ी-बड़ी काली आँखें और पतले होंठ, लम्बी-लम्बी उँगलियाँ और उनके लाल नाख़ून थे; लेकिन फिर भी वे किसी और चीज़की तलाश कर रहे थे, जो पहले हुस्ना में थी और शायद अब नहीं है..."मैं तुम्हें इस तरह बरबाद नहीं होने दूँगा हुस्ना, मुझे कभी सपनेमें भी यह खयाल नहीं था कि तुम्हारी ऐसी

हालत हो गयी है। अगर मुझे पहले पता चल जाता तो कभीका तुम्हें बंबई ले गया होता। तुमने मुझे भी ग़ैर समझा हुस्ना, मुझे एक चिट्ठी तक नहीं लिखी। अगर मैं अभी न आता तो मुझे तुम्हारे बारे में कुछ भी पता नहीं चलता और तुम इसी तरह घुलती जाती...मैंने तुम्हें समझनेमें भूल की हुस्ना..." और फिर दृढ़ताके साथ कहा... "अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। मैं अभी चार-पाँच दिन तक यही हूँ। मैं तुम्हें ज़बरदस्ती बंबई ले जाऊँगा। वहाँ तुम्हारा सारा इन्तज़ाम हो जायेगा..."

बाहर ज़ोर की बारिश पड़ने लगी थी। खिड़कीमेंसे सरसराते, हवा के झोंके अन्दर आ रहे थे। लेकिन दोनोंमेंसे किसीका ध्यान उस ओर नहीं था। शहीदन रसोईमें जल्दी-जल्दी चाय बनानेकी तैयारीमें लगी हुई थी।

"आज यह कमरा पहचाना भी नहीं जाता। कोई देखे तो यही समझेगा कि इसमें बरसोंसे कोई नहीं रहता। मैंने सोचा था कि वहाँ तुम्हारे गानों से ज़िंदगी और ज़िंदगीका प्यार बिखर रहा होगा। लेकिन देखता हूँ कि यहाँ मरघट-जैसा सन्नाटा है; जैसे यहाँ इन्सान नहीं, इन्सानोंके भूत बसते हों। तुम तो ऐसी नहीं थी हुस्ना! तुमने कभी काग़ज के नकली फूलोंको पसन्द नहीं किया। तुम्हारे फूलदानमें हमेशा ताज़े फूल सजे रहते थे। यह सब क्या हुआ?" गफ़ूर मियाँने एक लम्बी साँस ली और चिमनीमें जलती लकड़ियोंकी लपटोंकी तरफ़ देखने लगे। शहीदन चायकी ट्रे ले आयी। उसने दूरसे ही गफ़ूर मियाँ और हुस्नाको इस तरह चुपचाप बैठे देखा मानो वे अभी तक एक दूसरेसे परिचित ही न हुए हों। हुस्ना और दिनोंसे भी ज्यादा गम्भीर दिखाई दे रही थी, उसकी ये ही अस्वाभाविक चौंका देने वाली बातें शहीदनकी समझमें नहीं आती थीं। गफ़ूर मियाँके साथ वह हुस्नाके हँसते

हुए होठोंका इन्तज़ार कर रही थी। "गफ़ूर मियाँ, क्या आपके दोस्त को चाय नीचे ही..."

"अरे, मैं तो शहरारको भूल ही गया था। वह अकेला नीचे बैठा मुझे कोस रहा होगा।" और फिर हुस्नाकी ओर देखते हुए गफ़ूर मियाँ ने कहा, "मेरे साथ बंबईसे एक दोस्त आये हैं हुस्ना! बंबईमें फ़िल्में बनाते हैं। बंबईमें मैं हमेशा शहरारसे तुम्हारे गानोंकी तारीफ़ किया करता था। शायद इस चर्चासे ही तुम्हारी याद मेरे दिलमें हमेशा ताज़ी बनी रहती थी। इस बार शहरारको भी मैं अपने साथ ले आया। तुम्हारे गानेकी तारीफ़ें सुनते-सुनते इस बार उन्होंने तुम्हारा गाना सुननेका फ़ैसला कर लिया और वे मेरे साथ यहाँ तक चले आये..."। हुस्ना को कुछ न बोलते देखकर गफ़ूर मियाँने धीमी आवाज़में कहा... "लेकिन मैं तुमसे गानेके लिए नहीं कहूँगा हुस्ना! तुमसे कुछ भी कहनेका मेरा मुँह नहीं है ..." हुस्नाने बहुत देर बाद अपनी झुकी नज़रें ऊपर उठाईं। गफ़ूर मियाँ चाहते हैं कि वह गाना गाये और वह...उसने तो हमेशा यही चाहा है कि कोई उसके सामने बैठ कर उससे कुछ गानेके लिए कहे और आज-जैसा मौक़ा फ़िर नहीं आयेगा।

"मैं गाऊँगी गफ़ूर मियाँ..." उसने स्वयं ही महसूस किया कि उसकी आवाज़में स्वाभाविकता आ गयी है और गफ़ूर मियाँको अचानक अपने सामने पाकर धीरे-धीरे जो ज्वार-भाटा बढ़ने लगा था, वह अब कम होता जा रहा है।

"ओह हुस्ना!..." गफ़ूर मियाँ चिल्ला उठे, "मैं इन आँखोंको पहचानता हूँ। मैंने इन्हें जबसे देखा है तबसे इनमें ज़्यादासे-ज़्यादा डूबने की कोशिश करता रहा हूँ। लेकिन जितना ही मैं इनमें डूबा, इनकी

गहराई और भी गहरी होती रही और आज...आज तो उसकी कोई थाह नहीं है; कहीं किनारा दिखाई नहीं देता..."

हुस्ना थोड़ा-सा पहली बार मुसकरायी। उसने शहीदनकी ओर देखते हुए कहा, "इनके दोस्तको ऊपर बुला लो चाची..."

शहीदनके चले जानेपर गफ़ूर मियाँ खड़े हो गये और हाथोंको बग़लोंमें दबाकर कमरेका चक्कर लगाने लगे। कुछ देरके लिए वे खिड़कीके सामने भी जाकर खड़े हुए; परन्तु बाहर उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं दिया। फिर वे हुस्नाकी पीठकी ओर देखने लगे। हुस्नाके सिरपर दुपट्टा नहीं था। उसके बाल चोटीमें बँधे हुए थे और दोनों तरफ़ कानोंमें दो छोटी-छोटी सोनेकी बालियाँ दिखाई दे रही थीं। वह घुटनोंपर अपनी ठुड्डी टिकाये बैठी थी। दीवारपर लगा बड़ा-सा गोल घंटा टँगा था, जिसकी आवाज़ कमरेके सन्नाटेमें गूँज रही थी।

हुस्ना गा रही थी :

कई बार इसका दामन भर दिया हुस्ने दो आलम से।
मगर दिल है कि इसका ख़ाना वीरानी नहीं जाती॥

उसके पास न उस्तादजी बैठे तबलेपर ठेके मार रहे थे और न ही जमाल खाँ सारंगी बजा रहे थे। लेकिन हुस्नाकी आवाज़ थी, धीमी लेकिन स्पष्ट आवाज़, जो कमरेके सूनेपनको चीरती हुई सुनसान सोई रातमें उथल-पुथल मचा रही थी। हुस्ना धीरे-धीरे महसूस करने लगी कि वह अपने आपेमें नहीं है। किसी अँधेरी वीरान घाटीमें गुम होती जा रही है। गाते समय वह अपने हृदयकी आन्तरिक शक्तिको तीव्रतम महसूस कर रही थी, जैसी उसने पहले कभी नहीं की थी। उसे जान पड़ता था मानो उसके गलेसे निकलते एक-एक शेरमें उसकी ज़िंदगीकी सारी अनुभूतियाँ, सारी कशमकश, उसका सारा प्यार और दर्द बाहर निकलकर बह रहा हो। जिन अस्पष्ट और धुँधले विचारों और भावनाओंको वह

कभी शहीदनके सामने व्यक्त नहीं कर पायी थी, वे सबकी सब आज उसकी आवाज़में बड़ी आसानीके साथ बरसाती नालेकी भाँति बाहर निकल रही थीं। उसकी सारी ज़िंदगी और ज़िंदगीकी मान्यताएँ नंगी होकर उसके सामने खड़ी थीं। उसे खयाल नहीं रहा कि सामने गफ़ूर मियाँ और उनके दोस्त बैठे उसका गाना सुन रहे हैं। उसके गानेके साथ तबला या सारंगी नहीं बज रही है। यह उसका पुराना कमरा और चारों ओर उसकी दीवारें हैं। जिसकी हरएक चीज़पर धूल जमी हुई है। उसकी आवाज़ कमरेमें से बाहर निकलकर हवाके झोंकों और बारिशकी बूँदोंके साथ मिलकर एक होती जा रही थी।

गज़ल समाप्त हो गई और सबने महसूस किया, मानो कोई लम्बी, आसानीसे न बीतनेवाली रात खत्म हो गयी हो। गफ़ूर मियाँने गानेके बाद कुछ नहीं कहा। उन्होंने पीठ मोड़कर चुपचाप रूमालसे आँखें पोंछ लीं, हुस्नाके पिछले पाँच सालोंकी कहानी स्पष्ट रूपमें उनके सामने उभरकर आ गई थी। किसीको पता नहीं चला कि कमरेके बन्द दरवाज़ेके पीछे बैठी शहीदन गज़ल सुनते-सुनते इतना रोई कि उसके दुपट्टेका सारा छोर भीग गया। उसे हैरानी हो रही थी कि उसकी बूढ़ी आँखोंमें क्या अब भी इतना पानी है?

परन्तु शहरारको वास्तविक स्थितिका ज्ञान नहीं था। गफ़ूर मियाँने यहाँ आनेसे पूर्व उसे हुस्नाके विषयमें बहुत-कुछ बतला दिया था; परन्तु यह कहानी पिछले कुछ क्षणोंमें जिस नये मोड़पर मुड़ गयी थी, उसके विषयमें वह कुछ भी नहीं जानता था। उसने हुस्नाकी ओर देखकर कहा, "ओह, खुदाने क्या गला दिया है आपको...! मैं सच कहता हूँ कि ऐसा गाना ज़िंदगीमें मैंने पहले कभी नहीं सुना। कितना ओज, कितना दर्द है आपकी आवाज़में! इसे म्यूज़िक कहते हैं, जो तीरोंकी तरह सीधा दिलको चीरता अन्दर पहुँचता जाये..."

हुस्नाने कुछ नहीं कहा। उसके चेहरेपर परेशानीके चिह्न नहीं थे। वह शहरारकी तारीफ़ सुनकर उसकी ओर देखकर थोड़ा-सा मुसकराई।

शहरार फिर बोला, "शायद गफ़ूर मियाँने आपको बतला दिया होगा कि मैं बंबईमें फ़िल्में बनाता हूँ। लेकिन इतनी बड़ी फ़िल्मी दुनियामें एक भी ऐसा गानेवाला नहीं है, जो गानेके साथ अपना दिल बाहर निकाल सके, वे सबके-सब मशीनोंकी तरह म्यूज़िक डायरेक्टरके इशारेपर गाते हैं और म्यूज़िक हिन्दुस्तानी फ़िल्मोंकी जान होता है। अगर वह फ़ेल हो गया तो समझो कि पिक्चर फ़ेल हो गई। इसीलिए मैं हमेशा अच्छे गानेवालोंकी तलाश किया करता हूँ..." और थोड़ी देर तक ध्यानसे हुस्नाकी ओर देखते हुए वे धीमे स्वरमें कहने लगे—"अगर आप फ़िल्मों में 'प्लेबैक' गाने लगें तो फ़िल्मी दुनियामें तहलका मच जायेगा। आपका नाम चन्द ही महीनोंमें सारे हिन्दुस्तानमें फैल जायेगा, लोग आपके गाने सुनकर दीवाने हो जायेंगे। बाजारों और गलियोंमें लोग आपके गानोंको गाया करेंगे। एक-एक गानेके हज़ारों रुपये आपको मिलेंगे।" और गफ़ूर मियाँकी ओर देखकर उसने महसूस किया कि शायद वह ज़रूरतसे ज़्यादा बातें कह गया है जो उसे एकदम नहीं कहनी चाहिए थीं। लेकिन वह अपने उद्‌गारोंको अधिक देर तक मनमें नहीं रख सकता था—वह वहाँ बैठे-बैठे उस दिनकी कल्पना करने लगा जब हुस्ना उसकी फ़िल्मोंमें गायेगी और उसकी फ़िल्में 'बाक्स आफ़िस हिट' बनने लगेंगी। लोग उससे पूछेंगे कि यह हुस्ना बेगम कौन है? हुस्ना शहरारकी बातें सुनकर चौंक-सी गई, उसकी समझमें कुछ आया और कुछ खो गया। उसने गफ़ूर मियाँकी ओर देखा; परन्तु वे चुप थे मानो शहरारकी बातें उन्होंने नहीं सुनी थीं। उनका बस चलता तो वे वहाँसे भाग जाते, इस कमरेकी दीवारों और वातावरणमें उन्हें अपना दम घुटता-सा जान पड़ रहा था। "आपकी क्या राय है गफ़ूर मियाँ? क्या हुस्ना बीबीके फ़िल्मोंमें 'प्लेबैक'

गानेसे उनका नाम रोशन नहीं हो जायगा? हुस्ना बीबीका म्यूज़िक इस चहारदिवारीके अन्दर बन्द नहीं रहना चाहिए। वह दुनियाके लिए है, लोगोंके लिए है और आजकी दुनियामें फ़िल्में ही आपकी आवाज़को लाखों लोगों तक पहुँचा सकती हैं।"

थोड़ी देर बाद कल फिर मिलनेका वायदा करके शहरार पहले सीढ़ियाँ उतर गया। उसका दिल और ज़ोर-ज़ोरसे उछल रहा था। उसे स्वप्नमें भी यह खयाल न था कि हुस्नाकी आवाज़ इतनी आकर्षक हो सकती है। गफ़ूर मियाँ कुछ मिनटोंके लिए अकेलेमें हुस्नासे बातें करनेके लिए रुक गये। "हुस्ना, आज मैं तुमसे न मिलता और तुम गज़ल न गातीं तो तुम्हारी ज़िंदगीके जिस पहलूको मैंने आज देखा है वह कभी नहीं देख सकता था। लेकिन नहीं..." एकाएक उन्होंने हुस्नाका हाथ पकड़ लिया और उसकी आँखोंमें झाँकते हुए कहने लगे, "तुमने अपनी मनमानी इन पाँच सालोंमें बहुत की। अब मुझे अपना हाथ पकड़ने दो हुस्ना। मैं तुम्हें अपने साथ बंबई ले जाऊँगा। यहाँ तुम्हें आख़िरी साँसें गिननेके लिए नहीं छोड़ सकता। अभी तक दुनियाने तुम्हें तुम्हारी असली जगह नहीं दी। तुम्हारे गाने इस कमरेकी दीवारोंसे टकराकर खो गये। लेकिन अब यह नहीं हो सकता।" उनकी आवाज़में एक दृढ़ता थी, संकल्प था। हुस्ना मुसकराती हुई उनकी ओर देख रही थी—"ज़मानेके साथ तुमने आगे बढ़ना नहीं सीखा हुस्ना, तुम बरसोंसे वहींकी वहीं खड़ी हो। लेकिन आज तुम्हारे पैरोंके नीचेसे ज़मीन खिसक रही है और अगर तुम आगे नहीं बढ़ीं तो एक दिन..."

"आप घबड़ा क्यों रहे हैं गफ़ूर मियाँ? मैं आपके साथ बंबई चलूँगी। अभी तो आप चार-पाँच दिन यहीं हैं..." हुस्नाने अपने हाथोंसे उनका हाथ सहलाते हुए कहा।

"शहरारकी बात भी बुरी नहीं है। तुम्हारा हुनर दुनियाके लिए

है; चन्द लोगोंके लिए नहीं। मैं जानता हूँ, तुम्हें फ़िल्में पसन्द नहीं हैं; लेकिन तुम्हें तो सिर्फ़ 'प्लेबैक' गाने ही गाने होंगे। जैसे यहाँ गाती हो; जैसे पहले हम लोगोंके सामने गाया करती थीं..."

थोड़ी देर बाद गफ़ूर मियाँ चले गये। वे हुस्नासे बंबई चलनेकी योजना इस प्रकार बना रहे थे मानो शादीसे पहले कोई अपनी मंगेतरसे शादीके बाद रंगीन प्रोग्राम बनाता है और उसमें जितना सुख उसे मिलता है उतना शायद उन प्रोग्रामोंको क्रियात्मक रूप देते समय उसे नहीं मिलता। हुस्ना चिमनीके पास ही बैठ गयी। लकड़ियोंमें से आगकी लपटें निकलनी बन्द हो गई थीं। कुछ देर तक हुस्नाकी विचार-शक्ति और चेतना लुप्त-सी हो गयी। वह गफ़ूर मियाँ, शहरार, बंबई, सबको भूल गयी। मानो उन सबका उसकी ज़िंदगीसे कभी कोई सम्बन्ध न रहा हो। धीरे-धीरे उसका यह उन्माद ख़त्म हुआ और पिछले दो-ढाई घंटोंकी घटनाएँ स्वप्नकी भाँति उसकी आँखोंके सामने घूमने लगीं। शहरार कहते थे कि उसे फ़िल्मोंमें 'प्लेबैक' गाना चाहिए। वह परदेके पीछेसे गाये और फ़िल्ममें एक्ट्रेस अपने होंठ हिलाये। हुस्नाको हँसी आ गई। उसकी शोहरत होगी। उसे एक-एक गानेके हज़ारों रुपये मिलेंगे, लोग हुस्नाके 'प्लेबैक' गानोंकी चर्चा किया करेंगे। सड़कोंपर चलते हुए ताँगेवाले, बैलगाड़ियोंवाले अपना लम्बा रास्ता काटनेके लिए उसके गानोंको गुनगुनाया करेंगे। सामने 'गुलज़ार रेस्तराँ'में लगे रेडियोसे जिस तरह दूसरी फ़िल्मोंके रेकार्ड बजते हैं उसी तरह मेरी आवाज़ भी लोग सुना करेंगे। तो क्या मेरी पिछली ज़िंदगी झूठ थी? जिस पौधेको मैंने इतने प्यारसे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया, वह सब बेकार था? नहीं, झूठ नहीं था। मेरा एक रास्ता है और शहरारका दूसरा। मैं अपना रास्ता छोड़कर दूसरेके रास्तेपर नहीं चल सकती। और... गफ़ूर मियाँ भी यही कहते थे। वे मुझे अपने साथ बंबई ले जाना

चाहते हैं और अगर मैंने मना किया तो वे ज़बरदस्ती ले जायेंगे। उनके सामने मुझसे उनकी बात टाली नहीं जायगी। उनके सामने मैं अपने-आपको एक कमज़ोर बच्चा समझ लेती हूँ, जो उँगली पकड़कर चलता है। गफ़ूर मियाँको मेरी हालतपर तरस आ गया। मनमें शायद वह मेरी क़िस्मतपर रो भी रहे हों और वे भी मुझे 'प्लेबैक' सिंगर बनाकर मेरी क़िस्मत बदलना चाहते हैं। वह मुझे दुनियासे वह जगह दिलवाना चाहते हैं जो अभी तक मुझे नहीं मिल सकी है। वह हँसने लगी...कोई मुझे नहीं समझ सका...लोगोंको मेरा गाना पसंद आता है क्योंकि उसमें दर्द होता है, सोज़ होता है। लेकिन आखिर यह दर्द और सोज़ कहाँसे आया? इसका भी तो मेरी ज़िंदगी और मुझसे गहरा ताल्लुक़ है। लेकिन मेरी ज़िन्दगीसे किसीने प्यार नहीं किया। उसे समझनेकी किसीने कोशिश नहीं की। क्या 'प्लेबैक सिंगर' बननेमें मेरी आवाज़में वह दर्द रह सकेगा? क्या परदेके पीछेसे मैं किसीको भी अपने गानोंसे अपनी ज़िंदगी और उसकी तड़पनको समझा सकूँगी? गाने वाले और सुनने वालोंके बीचमें बिना कोई रिश्ता जोड़े क्या कोई गायक लोगोंके मनके तारोंको छू सकता है? वे समझते हैं कि मुझे शोहरत प्यारी है। रुपयेका लालच वे मुझे देते हैं लेकिन क्या उनकी ज़रूरत कभी मैंने महसूस की है?...नहीं, मैं बम्बई नहीं जाऊँगी, मुझे 'प्लेबैक' गाने नहीं गाने हैं।

अगले दिन सुबह तड़के ही शहीदनको जगाकर हुस्नाने उससे जल्दी-जल्दी सामान बाँधनेके लिए कहा—"तुम कहीं बाहर चलनेको कहती थी न चाची। तो चलो। मैं जल्दीसे जल्दी इस शहरसे बाहर चली जाना चाहती हूँ जहाँ मुझे कोई न जानता हो, किसीको मेरे मकानका पता न मालूम हो। जल्दी करो चाची। हमें पहली गाड़ी ही पकड़नी है। किसी भी शहरके लिए......"

राय आनन्दकृष्ण

सुप्रसिद्ध कला-आलोचक और कला-मर्मज्ञ राय कृष्णदासके सुपुत्र राय आनंदकृष्णको कहानियाँ लिखनेकी प्रेरणा कदाचित् अपने कथा-अनुरागी पितासे ही मिली। आपका जन्म बनारसमें हुआ और वहीं आपने शिक्षा पाई। एम०ए० में प्रथम स्थान प्राप्त कर आजकल आप शोध-कार्यमें संलग्न हैं।

राय आनंदकृष्णकी कहानियाँ यही निर्देश करती हैं कि कथाकारको सूत्र-रूपमें कथा कहना अच्छा लगता है। संक्षेपमें अपनी बात कहनेकी प्रवृत्ति सभी कहानियोंमें पायी जाती है, किंतु उनकी विशिष्टता यही है कि संक्षिप्त होनेपर भी वे अपनेमें पूर्ण होती हैं। आपके कथानक जीवनकी बहुत छोटी-छोटी-सी घटनाओंसे उठाये हुए होते हैं।

अनेक कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें छप चुकी हैं।

• माधवी और कर्णिकार

—राय आनन्दकृष्ण

मैं उन दिनों शाकुन्तल पढ़ रहा था—"कः सहकारमन्तरेण ज्योत्स्ना-मल्लिकां सहेत, समुद्रमन्तरेण महानदीं कुत्र वा अवतरति।" सामने खिड़की के नीचे दूर तक एक पुराने मकानका खँड़हर फैला था जिसके ईंट-पत्थर हटा दिये गये थे, केवल एक ढूह बच रहा था। प्रकृतिको केवल ईंट-चूनेका साम्राज्य नहीं भाता। उसे मिट्टीसे प्रेम है और वह ईंटकी दीवालमें भी मिट्टी खोजती है। उस मिट्टीके ढेरमें एक ओर पीपल, इमली और नीम, दूसरी ओर पारिजात, बेल इन सबने बीसों बरससे अपना साम्राज्य जमा रखा था।

बीचमें एक दिन मैंने देखा—उस दिनका मुझे भलीभाँति स्मरण है, एक कर्णिकार निकला है। उसके शैशव-कालमें ही लोगोंने उसका रूप सराहा और भविष्यमें सुन्दर फूल पानेकी आशा की।

"कः सहकारमन्तरेण......"

आषाढ़में अनजान बूटियोंके बीच माधवीने जन्म लिया। वर्षाकी फुहार और ठंडी बयार पाकर वह विकसित होती गई।

कर्णिकारने उसे पता नहीं देखा या नहीं, पर मैं, राजीवलोचन बी० ए०, अपनी खिड़कीपर बैठा एम०ए० के नोट तैयार करता और दोनों को देखता। परन्तु मैं भूलता हूँ—कर्णिकारने उसे पहले ही देख लिया था क्योंकि जब ठंढी हवा चलती तब अपनी लम्बी डालें हिलाकर आमोद मनाता।

उन्हीं दिनों कहीं बाहर जाना पड़ा। महीने भरसे ऊपर बाहर रहनेके बाद लौटकर देखा—माधवी विस्तृत हो गयी; कर्णिकार नये पत्तोंसे ढँक गया है। कर्णिकार बड़ी आकुलताके साथ ही अपनी डालें हिला-हिला-

कर माधवीको बुलाता और माधवी जैसे अपना सिर हिला-हिलाकर कर्णि-कारको हताश करती हुई कहती—'नहीं, नहीं।' तब कर्णिकार शिथिल होकर अपने सारे शरीरको झुका देता; उसकी सूखी पत्तियाँ गिर-गिरकर आँसूके समान बिखर जातीं—ठीक उसी प्रकार जैसे शकुन्तलाके वियोगमें आश्रम-लताएँ अपने सूखे पत्ते-रूपी आँसू गिरातीं—और उसे विकल देख-कर माधवी भी अपना मुँह फिरा लेती। कर्णिकार अपनेमें सोचता—'कः **सहकारमन्तरेण......**' माधवी सहकारको ही खोजती है। वह निश्चय ठान लेता कि अब माधवीकी ओर आँख उठाकर देखूँगा भी नहीं—जाने दो उसे, मैं अपनेमें ही क्या कम हूँ किसीसे ?

शरद् बीत चुकी थी, मुझे कालेज जानेके लिए अब छतरीकी आव-श्यकता न पड़ती। मैं खिड़की खोलते ही देखता, सब कुछ सूना-सूना-सा है। जान पड़ता है माधवी और कर्णिकारमें कुछ कहा-सुनी हो गयी है। पर माधवीको तो कभी कुछ कहते सुना ही नहीं। "चलो कुछ होगा", मैं निश्चय करता और विगत कलके लिये हुए नोट दूसरी कापी पर उतारने लगता।

पीछे बरामदेमें भाई साहब अपने मित्रोंमें बैठकर बातें करते, "ईंट इकट्ठी कर ली है, सीमेंट और लोहा मिल जाय तो सामनेके खँडहर पर एक छोटा फ्लैट बना लूँ; आजकल अच्छे किरायेपर उठ जायगा।"

मेरी लेखनी वहीं अटक जाती जैसे तेज़ीसे सीढ़ी उतरते समय रेलिंगमें कपड़ा फँस जाने पर कोई रुक जाय। और, तब मैं अपने मनमें उठती हुई अनेक उलझनोंको फँसे हुए कपड़ेकी भाँति सुलझाने बैठ जाता। कालेजकी नोटबुक सामने खुली पड़ी रह जाती। मैं एक बार कर्णिकारकी ओर देखता और फिर भाई साहबके स्वभावपर विचार करता......फिर यह सोचकर संतोष कर लेता कि आजकल किसे सिमेंट मिला है ?

उधर दिन छोटे होने लगे थे। उठते-उठते ही कालेज जानेका समय हो जाता। कालेजसे लौटकर मैं अपने अध्ययनमें प्रवृत्त होता और रात दो-दो, तीन-तीन तक बैठा लिखा करता अथवा पहले लिखे हुए निबन्धोंको दुहराया करता। परीक्षाकी तैयारीमें मैं कर्णिकार, माधवी, भाई साहब, सिमेंट, लोहा, मकान सबको भूल चुका था। ठंढी हवासे बचनेके लिए भाई साहब पहलेसे ही व्यवस्था कर रखते—मेरे टेबुलके बराबरकी खिड़की शामको अपने सामने बंद करा देते, नहीं तो मैं अल्हड़ आदमी, अपने स्वास्थ्यका खयाल न कर कहीं खिड़की खुली छोड़ पढ़ता रहूँ और बादमें न्यूमोनियाँ, ब्रॉंकाइटिस जैसी किसी बीमारीका शिकार बनूँ!

एक रविवारको दोपहरके समय खा-पीकर मैं अपना साप्ताहिक पारायण पूरा करनेके निमित्त पाठ्य-पुस्तकें लेकर बैठा। शाकुन्तलाके पृष्ठ उलटते-उलटते दृष्टि जाकर जम गयी—"कः सहकार......"

"ओह कर्णिकार", मैंने सोचा, "तेरी कितने दिनों तक सुध भी न ली भाई मैंने।"

तुरंत खिड़की खोली। खिलखिलाती धूप आकर मेरे पैरोंपर पड़ गयी। सामने सुंदर कर्णिकार हवामें लहरा रहा था। माधवी उससे लिपटी हुई।

"बधाई भैया", मेरे मुँहसे उसी प्रकार निकल पड़ा जैसे मैं अपने किसी सहपाठीसे कह रहा होऊँ, "मिठाई कब खिलाओगे?"

और अपने प्रश्नपर मैं स्वयं चौंक उठा। कर्णिकार और मिठाई! देखा, कर्णिकार फूलोंसे लदा था, वह माधवीको पाकर झूम रहा था।

मैंने अपनेको मनमें धिक्कारते हुए कहा—इतने दिनों तक ऐसे प्रियको भूला रहा। उसकी ओर नज़र उठाकर भी न देखा। पर उसी समय अपना बचाव भी भीतरसे ओठों पर आ गया—तो मुझे उससे क्या? मेरे न देखते भी वह तो बढ़ता ही जायगा, माधवीके साथ मिलकर नाचना क्या मेरे न देखनेसे उसने एक क्षण भी बंद किया?

वादीने व्यंगके टोनमें उत्तर दिया, अच्छा ! सारा संसार तेरे लिए रुका रहे। यदि तुझे उसकी ओर देखना हो तो प्रकृतिके इस वरद पुत्रकी ओर देख ले। नहीं तो जैसे तुझे एम० ए० के नोट्स बनानेसे छुट्टी नहीं है वैसे उसे भी फलने, फूलने, नित पल्लवित होने से नहीं।

हाँ, कर्णिकार इस साल फूला था। सचमुच उसके लिए यह उक्ति सर्वथा समुचित है कि फूलके बोझसे वह दब जाता है।

पर मुझे इस सबके लिए छुट्टी कहाँ। एक पक्षके बाद एम० ए० की परीक्षा देनी है, मैं परीक्षा शुरू होनेके पहले ही भलीभाँति कल्पना करने लगा कि परीक्षा समाप्त हो जानेके बाद अपनी पढ़ाई, लिखाई, नोट्स, व्यस्तता, जिसमें खाना-पीना सब भूल जाता है, इन सबको कितनी तुच्छ दृष्टिसे देखूँगा। एकाएक न जाने किस अनजान शक्तिने इन विचारोंकी ओरसे बलात् मेरा ध्यान हटाकर उन्हीं अक्षरोंकी लंबी-लंबी पाँतों पर जमा दिया। बकरीके बच्चे दूध पीकर इधर-उधर क्रीड़ा करते हैं, पर ज़रा-सा खुटका होते ही माँके थनसे लिपट जाते हैं।

अकालवृष्टिके ओलोंसे मार्चकी गर्मी और कर्णिकारके फूल गायब हो गये। बड़े भाई साहबने मुझसे कहा "चलो जी, ठंढक हो गयी। परीक्षा देकर दोपहरीमें लौटते समय तुम्हें धूप न लगेगी।"

मैं विनयसे नत हो जाता, कुछ उत्तर न देता। केवल कर्णिकारकी ओर देखता तो मुझे अपनी छोटी बहनके झुलसे मुखका स्मरण आ जाता जिसके कपड़ोंने दीवाली पर दीपक रखते समय आग पकड़ ली थी। कर्णिकारका रूप बिलकुल उसी जैसा हो गया था।

उस दिन तीसरा पर्चा बहुत अच्छा हुआ। भाई साहबने आते ही अभ्यासवश पूछा—"कैसा परचा रहा ?"

"आपके आशीर्वादसे यदि दो-एक ऐसे ही अच्छे बन गये तो"... हर्षके मारे मेरा गला रुँध रहा था, "तो प्रथम आना निश्चित है।"

"आज अच्छा ही अच्छा सुननेको मिल रहा है, आज बड़े सौभाग्यका दिन है।" मेरी ओर उन्होंने इस दृष्टिसे देखा जैसे मैं अन्य शुभ बातोंके लिए पूछूँ और तब वे उन्हें सुनायें। पर अधिक रुकना उनके लिए संभव न था। उन्होंने कहा, "आज इतनी प्रतीक्षाके बाद सिमेंट और लोहेका परमिट आ गया और मैंने काम लगवा दिया है।"

मैंने उत्साहसे खिड़की खोलकर नीचे देखा तो पाया, मजदूरोंका एक झुंड पेड़ोंको काटनेमें लगा है। इमली कट चुकी है, नीमकी बारी है। और कर्णिकार, वह माधवीसे लिपटा हुआ भूलुंठित पड़ा है।

मेरे मुँहसे अचानक निकल पड़ा, "कर्णिकार......माधवी"—

पीछे भाई साहबके ही मुँहसे सुना कि मजदूरोंने बेल और पीपल काटनेसे इनकार कर दिया। फलस्वरूप उन्हें नये फ्लैटकी लम्बाई-चौड़ाईमें बड़ी कमी कर देनी पड़ी। किंतु कर्णिकार—माधवी—?...

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव

बत्तीस वर्षीय कृष्णकिशोर श्रीवास्तवकी मान्यता है कि जीवनमें 'कुछ न कुछ' 'उछालना' अवश्य चाहिए; और वह भी इतनी गम्भीरतासे कि सब लोग उस ओर संजीदगीसे आकर्षित हो जायें। कदाचित् यही कारण था कि कृष्णकिशोर श्रीवास्तवने अपना उपनाम 'शेष' रखकर गणितके सिद्धान्तोंपर कहानियाँ लिखीं। कदाचित् यही कारण है कि भौतिक-शास्त्रमें एम० एस-सी०की डिग्री लेकर उन्होंने 'साहित्यरत्न' की परीक्षा पास की और अब 'हिन्दी-साहित्यपर भौतिक विज्ञानका प्रभाव' विषयपर अनुसंधान कर रहे हैं। सम्प्रति नागपुर विश्वविद्यालयके प्रकाशन-अधिकारी हैं और डटकर हास्य व व्यंग्यके नाटक लिख रहे हैं, जो रेडियो और रंगमंच, दोनों जगह, समानरूपसे लोकप्रिय हुए हैं।

अपनी कहानियोंमें कृष्णकिशोर श्रीवास्तवने यही चेष्टा की है कि उन्हें पढ़ते समय पाठकको घुँघरुओंके बजनेका आभास हो। और उन कहानियोंके विषयमें सोचते समय पाठकको यही लगे कि— गणित हमारे जीवनका अविभाज्य अंग है; हमारे जीवनके समस्त सत्य गणितके सिद्धान्तोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रस्तुत कहानीमें आपने सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि आनन्द = जीवन/इच्छाएँ, अपनी एक दूसरी कहानीमें आपने सिद्ध किया है कि प्रेम = वियोग + सुख। पाठक यदि साहित्य और गणितके इस लॉजिकल सम्मिश्रणसे प्रमुदित होंगे तो कृष्णकिशोरजीको प्रसन्नता ही होगी। उन्हें वास्तवमें पाठकोंकी प्रसन्नता ही अभीष्ट है।

आपके एकांकी नाटकोंका एक संग्रह 'रेखाएँ' और तीन अङ्कोंका एक नाटक 'नाटकका नाटक' प्रकाशित हो चुका है। रेडियो रूपकोंका संग्रह 'मछलीके आँसू' और रंगमंच-नाटकोंका संकलन 'आस्तीनके साँप' यंत्रस्थ है।

• आनन्द

—*कृष्णकिशोर श्रीवास्तव*

'जीवन मृत्युकी शय्या है, अथवा मृत्यु जीवनकी पूर्णता?' नीलेश कुछ निर्णय न कर पाया! वह मौनमें खोया था। उपेक्षित हृदय अपनी चिर साधना तथा अनुभूतियोंके मंथनका फल उसके समक्ष प्रस्तुत कर रहा था—'जीवन तो आनन्द और इच्छाओंका संतुलित सामंजस्य है।'

विचारमग्न नीलेश आसन छोड़ उठ खड़ा हुआ। मस्तिष्कमें विचारों का अंधड़ उमड़ रहा था। कमरेके फ़र्शको वह रौंदने लगा। कुछ क्षणोंके बाद उसने वातायनसे झाँका—प्रहरीसे वृक्ष, फिर भूरे केशोंमें माँग-सी पगडंडी, श्वेत सिकतामें उसका अवसान, सिकतासे लिपटा सरिताका कूल—नीरव और निर्जन! सरितामें डूबता-उतराता राकेश!...सौंदर्य समेट दृष्टि लौटी! नेत्र ऊपर उठे। राकेशमें ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नामें राकेश! उनके मिलन-गीत गाती नीलिमामयी नीहारिकाएँ—हाँ, नीहारिकाएँ पीड़ित *आकाशकी अनन्त आशाएँ!*

नीलेशके नेत्र ज्योत्स्नाका आँचल पकड़ राकेश तक कई बार पहुँचे और लौटे। नीलेशको लगा—ज्योत्स्ना जीवन, राकेश मृत्यु! जीवनमें मृत्यु, मृत्युमें जीवन? वह जीवनमें होकर मृत्युमें पहुँचा। मृत्युसे जीवनमें होकर लौट आया। तभी उस साधकका ज्ञान चिल्ला पड़ा—'जीवन पथ है, मृत्यु लक्ष्य।' विजय गर्वमें राकेशको चुनौती देते वह मुसकराया। हृदयने दबे स्वरमें फिर कहा—"आनन्द एवं इच्छाओंका एकीकरण ही जीवन है।"

वह अपने आसनपर आ बैठा। स्मरण हो आया कि उसे प्रधान अमात्यके गणित-सम्बन्धी कुछ प्रश्नोंपर विचार करना है। दार्शनिक तर्कके पश्चात् वह गणितकी तल्लीनतामें डूब गया। विपरीत रीतियोंके संघर्ष तथा

विभिन्न संख्याओंके समीकरण सुलझाते-सुलझाते हृदयकी वाणीकी प्रति-ध्वनियोंकी प्रेरणासे उसने विचारा—'क्या जीवन, उसके आनन्द तथा उसकी इच्छाओंमें कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं?'

अमात्यके प्रश्न अधूरे रह गये। विचारधाराने दिशा बदल दी। गणित की संख्याओंमें दर्शनके तर्क बाँधने वह उद्यत हो उठा।

× × ×

नीलेश तक्षशिलाका छात्र था। एक अनाथ बालककी भाँति उसने विद्यापीठमें प्रवेश किया था। सबकी सहानुभूतिका आधार था वह। रुचिके अनुसार उसने दर्शन एवं गणित शास्त्रोंका मनन एवं अध्ययन किया था। उसकी सफलता आयु एवं अनुभवके साथ बढ़ती ही गयी और अध्यापकोंकी सहानुभूति स्नेहमें परिणत होती गयी। सेवा उसका व्रत था और स्नेह उपहार। अध्ययन जीवनको गति दे रहा था—अध्ययन अनुभव और मनन बुद्धिके संसर्गमें विकसित हो रहा था।

इच्छाएँ उसकी सीमित थीं और सीमित था आनन्द। पिताका प्यार उसके लिए कल्पनाकी वस्तु था। जब कपोती कोटरमें अपने नन्हेंको दाना चुगाती अथवा जब मृत शिशुको पेटसे कई दिनों तक चिपटाये वानरी अपने असभ्य स्वरमें चीखती-पुकारती-रोती, तब माताके स्नेहका भी वह अनुमान कर लेता।

उसे बताया गया था कि उसकी माता उसके जन्मके दूसरे ही क्षण सदैवके लिए अपना स्नेह बटोरे, अपनी ममता समेटे उससे दूर हो गयी थी। उस स्मृतिमें अपने जन्म-दिवसपर वह हँसता और आँसू बहाता। हास्य-रुदन-पूर्ण वास्तविक जीवन उसका वर्षमें केवल एक बार हो पाता।

इस जीवनकी वास्तविकताका तेइसवाँ अवसर समीप था कि उसे एक दिन संदेश मिला—'उसका पुस्तकीय अध्ययन समाप्त हुआ।' उसने सोचा, अब जीवनका अध्ययन वह प्रारम्भ करेगा। दूसरा संदेश मिला—

'वह स्वतंत्र हुआ। अब उसकी जीविकाका भार उसीपर होगा।' वह सहमा। जीवनमें जीविकाका प्रश्न समस्याका रूप लेकर प्रथम बार उसके सामने आया। कुछ क्षणोंकी तल्लीनता तथा तर्क-जनित चिन्ताके पश्चात् उसके मुखसे निकला—"चिन्ताओंका समूह ही तो जीवन है।" वह हँस पड़ा, जैसे उसने सब कुछ पा लिया हो।

कुछ समय पश्चात् ही गुरुजनोंके आशीष एवं साधनोंके फल स्वरूप कोशल राज्य की वेधशालामें गणितसम्बन्धी प्रश्नोंके लिए वह नियुक्त किया गया। अपनी विलक्षण प्रतिभाके कारण कुछ ही दिनोंमें वह प्रजा-पतिके निकट सम्पर्कमें पहुँच गया। बूढ़े प्रधान अमात्य उसे पुत्रतुल्य समझते। युवक नरेश कभी बन्धु, कभी मित्र कहकर सम्बोधित करते। वह गद्गद हो जाता। गणितसे राज्यमें आया था, दर्शनसे राज्यके हृदयों पर राज्य करने लगा। गणित उसकी जीविका बना था; दर्शन उसके जीवनका लक्ष्य था—आनन्द था।

× × ×

उत्सवोंके लिए कोशल सदासे प्रसिद्ध है। भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें वहाँ भिन्न प्रकारके उत्सव होते और अनेक आमोद-प्रमोदके साधन एकत्र किये जाते। उनके मध्य कोशलाधीश प्रजा-हित की कुछ बातें कहते! प्रजाजन अपने कलाविद् प्रतिनिधियोंका आधार ले अपनी कामनाएँ अपने पालक की पलकोंमें सुला देते। ऐसे उत्सवोंमें वसन्तका उत्सव सर्वश्रेष्ठ था। बाल-रवि की प्रथम रश्मि जब तुहिन-बिन्दुओंको समेटती, पुष्पोंका चुम्बन करती, तभी कार्यक्रम प्रारम्भ होता। इसमें खेल-कूद, अश्वारोहण, वेधवाण मुख्य थे। मध्याह्नमें उत्सव विश्राम करता, संध्याको रंगमंच ऐश्वर्य पाता। नृत्य, रूपक आदि देख प्रजा 'धन्य धन्य' पुकार उठती। जब स्वर्णिम परिमल अपने अंकमें अधिक शीत बाँध लाता तब उत्सव सिहरकर समाप्त हो जाता। कितने ही लोग पुरस्कार पाते। कितने अपनी कामना-पूर्तिका आश्वासन पाते।

इस वसन्त उत्सवमें नीलेशको अमात्योंके समकक्ष आसन मिला था। उत्सवकी समाप्तिपर अन्य उच्च राज-कर्मचारियोंके साथ वह भी राज-भवनमें भोजनार्थ आमंत्रित था। अपने-आपमें सकुचाता-सा नीलेश भाग्य सराह रहा था।

भोजके उपरान्त प्रबन्धकने क्षमा-याचना की—"नर्त्तकी नीहारिका अचानक अस्वस्थ हो जानेके कारण आज उपस्थित न हो सकीं। वह लज्जित हैं।"

कोशलाधीशने कहा, "मित्र नीलेश, दुर्भाग्य! अतृप्त रह गये तुम्हारे नेत्र। नूपुरोंके स्वरमें बँधकर तुम रसमय न हो पाये। मुझे खेद है।"

"देवके अनुग्रह एवं स्नेहने मुझे रस-सागरमें बोर दिया। दयामय, यह कामना तो होलिकोत्सवमें भी पूर्ण हो सकेगी।"

प्रजापतिने मुसकानमें हर्ष प्रकट किया। तत्पश्चात् कवि 'निर्झर' ने 'जीवन' पर कुछ छंद पढ़े। सबने उसकी भाव-प्रौढ़ता एवं कल्पनाकी नवीनताको सराहा। नीलेशने प्रश्न किया, "जीवनको कविने पूर्ण माना है। फिर मृत्युके हिमानी अंकका प्रयोजन?"

"तर्क रसका विश्लेषण कर उसके उन्मादका विनाश कर देगा नीलेश! इसे स्थगित कर दो।" प्रधान अमात्यने कहा।

नीलेशका सिर नत हो गया। प्रजापतिने विसर्जनकी आज्ञा दी।

उस रात नीलेश सो न सका। वह जागता रहा। जीवनपर वह विचार करता रहा। वसन्तोत्सवका श्रृंगार उसके तर्कसे पीला पड़ रहा था।

× × ×

कृष्ण पक्ष प्रारम्भ हो चुका था। इस तिमिरमें नीलेशके मस्तिष्कमें गणितका प्रकाश अधिक आ घुसा था। जिज्ञासाके कारण वह ग्रहोंकी गति पर विचार करना चाहता था। वेधशालामें एक प्रहर रात्रि गये नीलेश दूरदर्शक यंत्र लगाये आकाशमें घूम रहा था। ग्रहोंके बाह्य रूप-रंगमें

उसे स्पष्ट भेद दीख रहा था। वह आनन्दमग्न था। नीलेश यह भेद अपने सहायकको भी दिखाना चाहता था। प्रसन्नताका भार अकेले कैसे वहन करता? कुछ सोच यंत्रको स्थानान्तरित कर उसने पुकारा—"पुष्कर! बन्धु पुष्कर!"

"आज्ञा।"

"मैंने यंत्र स्थानान्तरित कर दिया है। कल बतलाये हुए ग्रहको उसके नाभिस्थानमें लाओ तो कुछ नवीनता दिखाऊँ।"

पुष्कर कुछ देर यंत्रको हिला-डुलाकर बोला, "स्वामी, अवलोकन कीजिए।"

नीलेश यंत्रमें देखकर बोला, "पुष्कर, अभी तक तुम्हें ग्रह तथा नीहारिकाओंमें भेद नहीं ज्ञात हुआ! खेद!"

"स्वामी, नीहारिका तो कौशल राज्यमें है। गगन-मंडलमें कहाँ?" नीलेशकी सहृदयताका लाभ उठाकर पुष्कर बोला।

"नीहारिका!"

"हाँ स्वामी। वह नर्त्तकी नीहारिका। इन अनन्त नीहारिकाओंके सम्मिलित सौंदर्यसे बढ़कर सौंदर्य समेटे। इनके नर्त्तनसे अधिक उन्माद अपने नुपूरोंमें बाँधे और इनसे हमारे अधिक समीप रहनेवाली नर्त्तकी नीहारिका।" और पुष्कर अपने स्वामीकी मुद्राका निरीक्षण करने लगा।

नीलेश चित्रलिखित-सा खड़ा रह गया। भोज-दिवसके प्रजापतिके शब्द उसे स्मरण आये। फिर सँभलकर बोला, "पुष्कर, मुझे गगनपर रहने दो। धरापर सम्भवतः मुझे सुख नहीं मिल सकेगा।"

कार्य स्थगित हो गया। नीलेश वेधशालासे लगे अपने गृहकी ओर चला। उसने विचारा—क्या नीहारिका वास्तवमें ऐसी है? अवलोकन करूँ उसका भी? दूरदर्शक यंत्रसे अथवा सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे? फिर वह स्वयं ही हँस पड़ा।

दिन अपनी कालिमा लिये हँसने को उतावले भाग रहे थे। नीलेश उनकी दौड़में प्रायः नीहारिकाके विषयमें कुछ न कुछ सुन लेता। उसका मानव-मस्तिष्क, उसका सजल हृदय अब इच्छाएँ पालने लगा। दूरसे नहीं, समीपसे—जहाँसे नूपुरोंकी ध्वनि सुन सके और उसकी भाव-भंगिमा देख सके, वहाँसे—वह नीहारिकाको देखना चाहता था। नीलेश अनुभव कर रहा था कि उसके स्थायी जीवनका आनन्द घट रहा है। इच्छाएँ बढ़ रही हैं। पर वह विवश था, क्योंकि मानव था।

× × ×

अग्निज्वाल चंद्रके चुम्बनार्थ ऊपर उठ रही थी। ज्वालकी उसासें अपनी असमर्थतामें विलीन हो रही थीं। चंद्र उसके हृदयकी इच्छाओंका अनुमान कर अपने इंदु-करोंसे शीतलता प्रदान कर रहा था। संसार कह रहा था—"यह होलिकाकी ज्वाल, वह पूर्णिमाका चंद्र।"

समीप ही उद्यानमें कोशलाधीश राज्यके प्रमुख कर्मचारियों सहित नीहारिकाके नृत्यमें खो जानेको उतावले हो रहे थे। वातावरण शान्त था। एकत्र व्यक्ति अशान्त। पक्षियोंके शब्द कभी-कभी शान्ति भंग करते। नीलेश कहता, "दयामय! पक्षियोंके भी हृदय होता है।" अधिपति मुसकानमें नीलेशकी बात मान लेते।

प्रबन्धकने सूचना दी और नूपुरोंके जीवनमें क्रान्ति मचाती नीहारिका रंगमंचपर थिरक पड़ी। मचल पड़े दर्शकोंके हृदय। वाद्योंकी ध्वनिमें पग-पायलोंकी रुनझुन-रुनझुनमें जिज्ञासा, कौतूहल, आनन्द, प्रशंसा—टकरा-टकराकर बिखरने लगे। रंगमंच पुष्पोंसे ढक गया और नीलेश एक अनोखी अनुभूतिसे, जो उसके लिए सर्वथा नवीन थी। लयके आरोह-अवरोहमें वह डूबता और उतराता, रुनझुनमें वह मुसकराता और नर्त्तकीकी मुद्राओंमें वह खो जाता। इच्छा थी, नृत्य ही जीवन बन जाय।

यौवनकी अन्तिम उसाँस-सा नृत्य समाप्त हुआ। करतल ध्वनिके तुमुल कोलाहलमें प्रशंसाके शब्द भटकने लगे, जिनमेंसे कुछ ही नीहारिका तक पहुँच पाये।

"मेरा कथन असत्य तो नहीं था नीलेश ?"

नीलेश तन्मयतासे जागा, "सर्वथा सत्य था दयामय ! मैं विचार रहा था, हमारा जीवन भी तो ऐसी ही तन्मयतासे ओत-प्रोत इच्छाओंका नृत्य देखता है—आनन्दके लिए।"

"तो आओ, इस जीवनको इच्छाओंसे मिला दूँ—आनन्दके लिए।" अधिपतिका विनोद अधरोंसे झाँक उठा।

प्रजापतिके आगमनकी सूचना पा नीहारिका यवनिका हटा सामने आ गयी। सौंदर्य और कलाने सम्मिलित भावसे नत होकर वैभवको प्रणाम किया।

"ये नीलेश हैं। हमारे कर्मचारी। दर्शनके पंडित, गणितके विद्वान् और कोशलकी वेधशालाके अध्यक्ष। तुम्हारी प्रशंसा किया चाहते हैं।" प्रजापतिने परिचय दिया।

"एक प्रशंसनीयसे अपनी प्रशंसा सुन मैं कहीं बावली न हो जाऊँ महाराज !"

"कदापि नहीं देवी। प्रशंसा तो इच्छा-विशेषका व्यक्तीकरण है। इच्छाएँ दबकर विकार करती हैं।" नीलेश बोला। उसके विचार डगमगा गये थे।

नर्त्तकी उसे देखती रही। नेत्रोंसे श्रद्धाञ्जलि उँडेल बोली, "कल मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिये। कृतार्थ होउँगी। पावन चरणोंके स्पर्शसे मेरा निवास धन्य हो उठेगा।"

नीलेश विचारमग्न हो गया। उत्तर देना चाहता था, पर न दे पाया।

"नीहारिके! नीलेश कल तेरा अतिथि होगा।" प्रजापतिने कहा। नीलेशने एक-एककर उन दोनोंकी ओर देखा। वैभवका प्रभाव, सौन्दर्यका आकर्षण।

× × ×

गोधूलिके पश्चात् नीलेश नीहारिकाके निवास-स्थान पर पहुँचा। वह स्वागतार्थ प्रतीक्षामें खड़ी थी। सम्मान, सहृदयता एवं निकटताने उसे उस सौन्दर्यका और भक्त बना दिया। नीहारिका आज नीलेशके ज्ञानको अपनी कलासे तौलना चाहती थी। इसी कारण भोजनके उपरान्त नृत्यकी व्यवस्था हुई। नीलेशकी इच्छाने हृदय गुदगुदाया। अपना स्वप्निल सौंदर्य लिये, रत्न-आभूषणोंसे सुसज्जित पायलोंके शब्द करती, उस एकाकी कक्षमें मदिराकी मादकता-सी वह छा गयी। नीलेश देखता रहा—उसी प्रकार जैसे शैशव अपना स्थान ले लेने वाले यौवनकी क्रीड़ा निहारता है।

नृत्य-समाप्तिपर नीलेशने कहा, "देवी, नूपुर तुम्हारे चरणोंसे लिपटकर अमर हुए। मुद्राएँ तुममें बँध असीम बन गयीं।"

नीहारिकाने नेत्रोंकी मूक भाषामें आभार माना। वह समीप आ बैठी। नीलेश सकुचाया, ज्ञान सहमा भाल भूमिकी ओर झुक गया।

नीहारिकाने प्रश्न किया, ज्ञान और कलामें क्या भेद है?"

"ज्ञान मस्तिष्क का उन्माद है और कला हृदयकी पीर।"

"इनका लक्ष्य क्या है?"

"दोनोंका लक्ष्य आनन्द है।"

"आनन्द क्या है?"

नीलेश रुक गया। एक क्षण बाद उसने कहा, "देवी, इसका उत्तर कुछ दिनों बाद दे सकूँगा।"

नीलेश आशा ले चल दिया। परिवाका चन्द्र कुछ खोकर नीलेशको अपनानेका प्रयत्न कर रहा था।

× × ×

नीलेश अनुभव कर रहा था कि उसकी इच्छाएँ बढ़ रही हैं। वह प्रतिदिन चाहता कि नीहारिकाका नृत्य देखे। बहुधा समय खोज, बहाना ढूँढ पहुँच जाता। नीहारिका समझ जाती। ज्ञान और कला मिल बैठते। हृदय और मस्तिष्कमें समझौता होने लगता। वृक्षकी कटी डाल-सी नीलेशकी इच्छाएँ अनेक मार्ग खोज पनपने लगीं। इच्छा-पूर्ति न होनेपर उसे दुःख होता। आनन्द उसे दूर भागता दिखायी देता। वह सोचता—"मैं वही नीलेश। वही मेरा जीवन। फिर केवल इच्छाओंके आधिक्यपर आनन्दकी यह न्यूनता क्यों ?"

जब हृदय इन संघर्षोंमें लय हो जाता, तब दर्शन गणितकी आड़ ले कहता—जीवनमें इच्छाओं और आनन्दका निश्चित सम्बन्ध है। इच्छाएँ बढ़कर आनन्द घटा देती हैं। नीलेश वास्तविकतासे उठ कल्पनामें खो जाता।

नीहारिका नीलेशके ज्ञानपर मुग्ध थी। नीलेश उसकी कलाका भक्त था। दोनों आराधक थे, आराध्य थे। साधक थे, साध्य थे। आराधना और साधना इच्छाओंका परिणाम था।

समय समझौतेमें बीत रहा था। अचानक नीहारिकाको कुछ समयके लिए कोशल छोड़ना पड़ा। अश्रुओंमें वह विदा हुई। आहोंमें नीलेशने यह देखा। नीहारिकाकी उपस्थितिमें उसकी इच्छाएँ बढ़ती रहीं। आनन्द घटता रहा। वह एक अज्ञात वेदनाका अनुभव करने लगा। अनुसन्धान-कार्यमें उसने मन लगानेकी चेष्टा की, किन्तु असफल रहा।

उस दिन दूरदर्शक यन्त्र ग्रहकी ओर नहीं निहार रहा था। उसकी दृष्टि कहीं और थी। पुष्करको आश्चर्य हो रहा था, "स्वामी, आपसे यह भूल !"

"नहीं पुष्कर, ग्रहोंका गृह क्या झाँकूँ ? मैं तो नीहारिकाओंकी तुलनामें लीन हूँ।" नीलेश वेधशालाके ऊपरी खंडसे शून्यमें ताक रहा था। फिर न जाने किस मानसिक भारसे दबकर उसने नेत्र मूँद लिये।

पुष्कर देख रहा था अपने प्रधान को, उसकी दशाको। अचानक पुष्कर चिल्ला उठा। नीलेश उस खण्डसे लुढ़ककर दूसरे खण्डपर जा गिरा था। पुष्कर घबराकर उस खण्डपर पहुँचा। अचेत नीलेशका रक्त-रंजित शीश देख वह चिल्लाया। नगर-निवासी दौड़े। प्रजाको, प्रजापतिको दुःख हुआ।

राज्यवैद्यके निरीक्षणमें नीलेशका उपचार आरम्भ हुआ। दूसरे दिन सन्ध्याको नीलेशने नेत्र खोले। स्नेही सामने खड़े थे। उसने सूखे अधरों की मुसकानसे उनका आभार माना। राज्यवैद्यने कहा, "शीघ्र ही आप स्वस्थ हो जायँगे।" स्नेहियोंने उनका साथ दिया। नीलेश मुसकराकर शान्त हो गया।

प्रातः सेवकसे नीलेशने प्रश्न किया, "नीहारिका नहीं आई?"

"नहीं स्वामी। समाचार मिला है कि शीघ्र ही आयेंगी। आपकी इस दुर्घटनाका समाचार उन तक पहुँच चुका है।"

नीलेश चुप हो गया। सन्ध्याको प्रजापति भी आये। नीलेशने फिर वही प्रश्न किया। सन्तोषजनक उत्तर पाकर भी उसे शान्ति न हुई। कहा, "दयामय, कामना थी कि जीवनकी समाप्तिके पूर्व उसके प्रश्नका उत्तर दे दूँ।"

नीलेश प्रतीक्षामें सासें गिन रहा था। उसकी दशा बिगड़ रही थी।

लगभग एक सप्ताह पश्चात् नीहारिका निर्झर-सी उपचारगृहमें गिरकर कराह पड़ी। नीलेशके अधरोंपर मुसकानकी रेखा खिंच गई, "आ गई देवी। कामना थी तुम्हारे दर्शनोंकी। चाहता था तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता जाऊँ।"

"ऐसा न कहो देव! मेरी इच्छाओंका क्या होगा?" वह बिलख पड़ी।

नीलेश कुछ क्षण मौन रहा, फिर शक्ति समेट बोला, "देवी, उत्तर देने दो। विलम्ब हो रहा है। तुमने आनन्दका परिचय चाहा था न! आनन्द एवं इच्छाओंका गुणनफल ही जीवन है। अथवा यों कहो कि जीवन भाज्य, इच्छाएँ भाजक और आनन्द भजनफल हैं। स्थायी जीवन में इच्छाओंका आधिक्य आनन्दकी न्यूनताका द्योतक है। बस अब विदा दो........"

"नहीं देव, मुझे आज्ञा दो। आज मैं उस देवालयकी पाषाण-प्रतिमा की सहृदयताकी परीक्षा लूँगी। मृत्युपर्यन्त उसके समक्ष नृत्य करूँगी। सम्भव है वह मेरी सुन ले।"

नीलेश मुसकराया। नीहारिका बावली हो देव-मन्दिरकी ओर भागी। राज्यवैद्यने औषधका पात्र उठाया और कहा, "ग्रहण करो नीलेश!"

"पूज्य, जीवनकी पूर्णतामें अवरोध उपस्थित न करो। इच्छाएँ शून्य हो चुकी हैं। उन्हें आनन्दसे मिलाकर जीवन शून्य कर लेने दो अथवा इच्छाओंसे जीवनमें भाग देकर आनन्दको अनन्त कर लेने......" और नीलेशके प्राण अलौकिक आनन्दकी ओर उड़ गये।

उधर देव-मन्दिरमें नीहारिकाके नूपुर देव-प्रतिमाकी सहृदयताको पुकार रहे थे। कदाचित् उनकी ध्वनि नीलेशकी चेतनाका स्पर्श करने भागी आ रही थी। मार्गमें ध्वनिने प्राणोंको पाया और उन्हींसे लिपटकर अनन्तकी ओर चल पड़ी।

कहते हैं, आज भी नीहारिका नृत्य कर रही है, पर उसके नूपुरोंमें ध्वनि नहीं।

जीवन नायक

'वीनसके पैर' कहानी ('प्रतीक'-१२ में प्रकाशित) लिखते समय तरुण कथाकार जीवन नायकने कदाचित् यह नहीं सोचा था कि शीघ्र ही वह वीनसके हाथोंपर भी कहानी लिखेंगे। इन दोनों हृदय-स्पर्शी कहानियोंको पढ़ उस समय यही सोचा गया था कि जीवन नायक अब कदाचित् वीनसके नेत्र, वीनसकी नासिका और वीनसके केशपर कहानियाँ लिखेंगे; किन्तु पाठ्य-पुस्तकोंने इस प्रतिभावान् कथाकारको कहानी-क्षेत्रसे परे खींच लिया तथा हिन्दी-कथा-साहित्य जीवन नायकसे कुछ और अच्छी कहानियाँ पानेसे वंचित रह गया।

जबलपुरमें जन्मे और नागपुर, लखनऊमें शिक्षित जीवन नायक सम्प्रति भोपालमें अधीक्षक, पाठ्यपुस्तक और प्रकाशन हैं। नियमित रूपसे नहीं लिखते—कदाचित् इसलिए भी, कि पत्र-सम्पादक माँग नहीं करते। अब तो पाठ्य-पुस्तकोंकी ओर ही ध्यान अधिक है।

• दो हाथ

—जीवन नायक

सोने-जैसे पीले दो सँपोले फन फैलाये निश्चेष्ट पड़े हों, या धरतीपर गिरे, मुर्झाये, चमकीले पत्ते धुणाक्षर न्यायके अनुसार हाथोंके अग्रभागके आकारमें आ जमा हुए हों, या फिर किसी संगतराशकी कृतिके, कोहनीसे नीचेके दो हाथ किसी आधारके सहारे रखे हुए हों और एक-ब-एक किसीकी निगाह उनपर पड़ जाय...... !

तो एक दिन ऐसा ही हुआ। ललवानी संस एंड कंपनीका मालिक बीस-बाईस वर्षका मनोहर किशोर ऐसे ही दो हाथोंको अपनी दूकानके काउंटरपर रखा देख स्तम्भित रह गया ! उसने देखा, मोमकी तरह चिकने, तीव्र जॉंडिससे त्रस्त किसी बहुत ही गौरांग मरीजकी त्वचाके सदृश पीले, छेनीके कलाकारकी मति-गतिके सूचक, प्रतिभावान्‌के उत्कृष्ट प्रयोग-जैसे दो हाथ, केवल दो हाथ—अपनी मद्धिम रोशनीमें आप ही चमक रहे थे......

ललवानीकी दूकान इधर सिविल लाइंसमें शायद सबसे बड़ी दूकान है। टॉफ़ी और खिलौनोंसे लेकर बढ़िया विलायती तम्बाकू और वाकिंग-स्टिक तक तमाम चीज़ें वहाँ बिका करती हैं; और जिसकी बात कह चुका हूँ वही किशोर आजकल दूकानपर बैठता है। सुबह आठ बजे घरसे चलता है तो दूकान तक रास्ते भर केले खाता आता है। क़ीमती कपड़ेकी गरम पतलून, उसपर जगह-जगह सिकुड़ी हुई रेशमकी कमीज, जो हमेशा पैंटके बाहर लटका करती है और उसपर नेवी-ब्लू पुलोवर। सिरके बाल हमेशा बेतरतीब, बिखरे हुए, कवियोंकी तरह बढ़े हुए, पर छल्लेदार, जैसे यूनानी वीरोंकी मूर्तियोंके होते हैं। किशोर लापरवाह नहीं, बेपर-वाह है, खूब ही मनमौजी, मस्त। आस-पासकी चीज़ोंको छूकर वह उनमें

मस्तीका संचार करता जान पड़ता है। दिन-भर दूकानपर रहता है, सामान बेचकर पैसे जमा करता है, ग्राहक न होनेपर काँचकी बड़ी-बड़ी शीशियोंसे चॉकलेट निकालकर चबाया करता है और अक्सर 'महल' फ़िल्मका गाना बिलकुल कलाकारकी तरह गाता रहता है—'आयगा...आयगा'। पूरा गाना गाते हुए मैंने उसे नहीं सुना, पर हाँ, आप कभी उसे गाते हुए सुनें तो ज़रूर मान लेंगे कि इन्सानके इस गलेसे 'इलीज़ियम' की रूमानी दुनियाके किसी अनजाने किन्नरका विरह-गान प्रस्फुटित हुआ करता है, जिसकी ध्वनि डूब जानेपर भी आपको बेचैन करती रहती है। वह एक अजब 'हॉन्टिंग ट्यून' है जो गूँजती रहती है...। ललवानीकी दूकान क़ानूनी तौरपर सप्ताहमें एक दिन बन्द रहती है। सुबह आठ बजे खुलती और आठ बजे बढ़ जाती है। ठीक दूकानदारकी तरह वह छोकरा हिसाब-किताब मिलाता है। सिर हिला-हिलाकर तिर-तिर-तिर नोटोंका ढेर गिनता चला जाता है। फिर बत्तियाँ गुल होती हैं, दरवाज़े बन्द होते हैं, भारी तालोंमें चाबियाँ घूमती हैं और तब सुन पड़ता है...'आयगा... आयगा'। इसके बाद लगभग ८-३० बजे इसी रास्तेपर प्रायः रोज़ ही तेज़ रफ्तारसे एक मोटर-साइकिल निकला करती है जो रातमें कोई ११, ११-३० बजे फिट्, फिट्, फिट्, करती लौट पड़ती है। इस बस्तीमें आम तौरसे लोग इस मोटर-साइकिलकी रफ्तार और आवाज़को खूब पह-चानते हैं। वह छोकरा कुछ है ही ऐसा। बहुत लोग उसे अकारण भी जानते हैं। लड़का शायद इस वक्त भी गुनगुनाया करता हो और मोटर-साइकिलके शोरगुलमें उसका कलनाद समा जाता हो।

चैत्र माहके पूर्वार्धकी सुनहली धूप जो सर्दीसे पूरा-पूरा बचाव नहीं करती तो भी भली मालूम होती है, और वसन्तकी हवा जो शरीरको रोमां-चित करती है फिर भी सुखदाई लगती है, ऐसे ही एक सुप्रभातमें मैदानी नदीके शान्त और स्तब्ध प्रवाहमें तैरती हुई दीपशिखाकी तरह स्थिर,

निराधार वेत्रलतिकाके समान अवसन्न, वीरानेमें खड़ी बेआबाद भूतोप-सृष्ट इमारतकी तरह दुर्बोध, परियोंके देशकी शाहजादीकी तरह सुन्दर एक लड़की, एक प्रौढ़ाके साथ ललवानीकी दूकानपर चढ़ी और उसके चढ़ते ही ललवानीकी दूकानमें जैसे उजाला फैल गया। वेषभूषासे पंजाबी दिखनेवाली ये माता-पुत्री इस दूकानमें पहली दफ़ा दाखिल हुईं। दूकानमें आये ग्राहकोंकी आहट पाकर और काउंटरपर रखे हाथोंके उस खूबसूरत जोड़ेको देखकर लड़का ठगा-सा रह गया, सम्हल ही न सका। आदतके मुताबिक, रोज़की तरह लपककर वह काउंटरपर भी खड़ा नहीं हुआ। कुछ देर बाद मुँह और आँखोंपर हाथ फेर, होश सम्हालता हुआ, शो केसके पीछेसे वह काउंटरकी दूसरी बाजू आया। सामान लेकर ग्राहक चले गये। पर लड़का जहाँ खड़ा था, खड़ा रहा, खड़ा ही रहा और शाम हो गई। किसी प्यारी चीज़के खो जानेपर मन तमाम और बातोंसे खिंचकर जब उसी एक चीज़पर अटकता है तब इन्सान कुछ भूला-सा नज़र आता है। लड़केकी भी यही हालत हुई। उसकी मस्ती, उसकी बेपरवाही उस क्षणसे गायब हो गई, रोज़की तरह उसका विरह-गान भी नहीं सुनाई दिया।

ललवानीकी दूकान रोज़की तरह खुलती रही। छोकरा भी आता, सामान बेचता, पैसे लेता, हिसाब करता और दूकान बढ़ाता रहा, पर गाना भूल गया। वह किसी गहरे सोचमें पड़ गया। वे दो खूबसूरत हाथ उसकी निगाहोंसे ओझल न होते। हज़ारों लोग इस दूकानपर आते हैं पर वैसे हाथ कभी नहीं देखे। खूबसूरत हाथोंका जोड़ा तरह-तरहके रंगोंमें और अजीब-अजीब शक्लोंमें उसकी आँखोंके सामने नाचता रहा। कभी उसे पीले-पीले साँप दीखते, कभी हाथ फैलाये संगमरमरकी विशाल मूर्ति दिखाई देती, कभी मोमका पुतला दीखता और पुतलेकी शक्ल मिटकर केवल दो हाथ ही रह जाते। सड़कपर चलते हुए या दूकानमें

काम करते हुए लड़केको हरदम हाथोंका वही खूबसूरत जोड़ा तंग किया करता। कभी-कभी उसे लगता उसके चारों तरफ सैकड़ों, हज़ारों हाथ घूम रहे हैं। कई बार ऐसा होता कि दूकानमें आनेवाले ग्राहकोंके केवल हाथ ही उसे दीखते। सामान उठाते हुए, सामानको थैलियोंमें रखते हुए, पैसे गिनते हुए या दाम चुकाते हुए, कभी-कभी भूतकी तरह हर वक्त पीछे लगे रहनेवाले इन हाथोंसे तंग आकर लड़का अपनी आँखें बन्द कर-लेता पर तो भी शायद उसकी बेचैनी दूर न होती।

कोई आठ-दस दिन बाद वही लड़की फिर दूकानपर आई। आज वह अकेली थी। लड़का उस समय दूकानपर न था। सुर्ख लाल रंगके दस्तानोंमें ढके हुए हाथ काउंटरपर रखे लड़की प्रतीक्षा कर रही थी और दूकानके नौकर बाअदब खड़े हुए थे, इतनेमें लड़का आ पहुँचा। लड़कीने चार-छः दवाइयाँ माँगीं। फिर कहा...“इलेक्जिज़यर पैपीन और पैनि-सिलीन इंजेक्शन।” बाक़ी सब सामान नौकरोंने लाकर हाज़िर किया। लड़का बोला, “इंजेक्शन चुक गये।”

फिर उन हाथोंपर उसकी निगाह जम गई। बादको घनी लम्बी और खिंची हुई भौंहोंके नीचे बड़ी-बड़ी और नीली आँखोंसे उसकी आँखें चार हो गईं। लड़केने देखा उनमें मायूसी और बेबसीका रंग गहरा होता जा रहा था।

“कहींसे लिवा दीजिये, सख्त ज़रूरत है, भाभीको दौरा हुआ है...” लड़कीके इन शब्दोंने लड़केको विचारोंमें खो जाने न दिया। वह अभी आसपासकी दुनियासे बेखबर होने जा रहा था, पर स्वस्थ हो गया, बोला—

“कोशिश करता हूँ, उम्मीद कम है, पता दे जाइये, भिजवा दूँगा।”

“मेहरबानी” कहकर लड़की जानेको हुई। इसी वक्त उसे कुछ खयाल हुआ। कहा...“नमस्ते”। काउंटरपर रखे हुए अपने हाथ क्षणभर

देखनेके बाद वह पीछे हटी। हाथ धीरे-धीरे काउंटरसे खिसककर दोनों बाजुओंमें लटक गये। लड़कीने धीरेसे सिर उठाया और कहा..."माफ़ कीजिये, हाथ काम नहीं करते।"

सामान रिक्शेपर रखा जा चुका था। लड़की बाहर आ गई। रिक्शेवालेने सहारा दिया। वह बैठ गई, रिक्शेवाला दूकानमें आकर दाम चुका रहा था। लड़केने पूछा...

"मिसी बाबाका मकान जानते हो?"

"हाँ हुजूर, बारह नम्बर, नई बस्ती, बिल्कुल आखिरी बँगला है।"

रिक्शा चला गया। लड़केकी आँखोंके सामनेका नीला आकाश धीरे-धीरे बदलने लग गया। उसे लगा, वह किसी विशाल, गहरे नीले समुन्दरके बीच खड़ा है। जहाँ तक उसकी निगाह पहुँच पाती है वहाँ तक समुद्र-ही-समुद्र है, एकदम शान्त; न लहरें उठती हैं, न ज्वार आता है, न हवा सनसनाती है, चारों ओर भयावह स्तब्धता है। सन्नाटेके स्वर मौनको बुला रहे हैं। वह देख रहा है, अथाह जलराशिके बीचोंबीच समन्दरकी सुन्दरीके दो अनुपम हाथ पानीकी नीली सतहपर धीरे-धीरे उभर रहे हैं, यह आसन्न प्रलयका संकेत है। अब वह डूबने लग गया है, नीचे, नीचे और नीचे......

जाने किस आहटने लड़केको चैतन्य कर दिया। वह तनकर खड़ा हुआ मानो किसीने उसे चोरी करते पकड़ लिया हो लेकिन...बारह नम्बर, नई बस्ती। हाथ काम नहीं करते...क्यों? क्या कुछ भी नहीं करते? नमस्ते भी नहीं? क्या हुआ है इन खूबसूरत...खूबसूरत पर बेजान, बिल्कुल हरक़त नहीं होती उनमें? ऐसी सज़ा खुदा किसीको न दे...

इंजेक्शन खरीदकर उस दिन लड़का स्वयं बारह नम्बर नई बस्ती जाकर दे आया। बुढ़ियाकी तबियत सुधर गई। पहले दिनकी मुलाक़ातके बाद लड़का वहाँ अक्सर जाने लगा। बातों-ही-बातोंमें एक दिन

उसने जान लिया कि ये लोग पंजाबी शरणार्थी हैं। प्राण लेकर भाग आये हैं। दंगाइयोंने बापको माँ-बेटीके सामने क़त्ल किया। इन दोनोंके हाथ पीछे बाँध दिये गये थे। बापके मरनेपर माँ बेहोश हो गई थी। हाथ रहते हुए भी ये दोनों बेबस, लाचार थीं। कुछ कर नहीं सकीं। फिर बारी थी लड़कीके छोटे भाई, ढाई सालके निर्दोष बालककी। माँ तो पहले ही होश खो बैठी थी। हाँ, बहिन देखती रही, दंगाइयोंने चूहेकी तरह कान पकड़कर कितने ही बार बच्चेको ऊपर-नीचे झुलाया। फिर एक लकड़ीसे पैर बाँध उसे उल्टा लटकाया। दो ने मिलकर उस नन्हीं-सी जानको लकड़ीके चारों तरफ़ जी भरकर घुमाया।

इस नृशंस कृत्यसे बच्चा अधिक देर तक नहीं लड़ सका। लड़की ज़रूर अपनी सख्तीसे बँधे हाथोंके बन्धनोंसे लड़ती रही पर बेकार उसकी सारी ताक़त हाथोंमें खिंचकर समा गई तो भी दीवालसे सर टकराने और अन्तमें मुर्देकी तरह लटके रह जानेके सिवा लड़की कुछ नहीं कर सकी। बेहोशीकी हालतमें उनपर क्या कुछ बीती सो खुदा जाने। होश आनेपर माँ को दौरे आने लगे और लड़कीके हाथ अजगलस्तनके समान लटक गये और बेकाम हो गये। हाथ रहते हुए भी लड़की कुछ न कर सकी; इस अफ़सोसने भी उन हाथोंको स्पन्दनहीन बना दिया। लड़केको ऐसा मालूम हुआ कि बीती बातोंकी याद हरी होनेपर या अत्याचारकी कहानियाँ सुनने-सुनानेपर, अथवा दुःख-सुखके तीव्र आवेशमें कभी-कभी हाथोंमें एकाएक ज़ोरसे सनसनी पैदा होती है। वे एक दूसरेके साथ ज़ोरसे कस जाते हैं और एक-दो मिनट बाद फिर ज्योंके-त्यों गिर पड़ते हैं।

किस क़दर मुसीबतमें माँ-बेटी वतनसे वापस आकर इस शहरमें रुक गईं, उन्होंने कितने फ़ाके किये और कितने ही अविश्वसनीय घटना-चक्रोंमें फँसकर वे ज़िन्दा निकल आईं और आज तक जीवित हैं...पाकिस्तानमें जमा हुआ उनका रुपया अब मिल गया है और किसी तरह ज़रूरतें पूरी

हो रही हैं । सारा हाल लड़केने जान लिया । इधर लड़केका बारह नम्बर नई बस्तीमें आना-जाना बढ़ता गया । उधर शायद उससे कहते रहे..."माँ-बेटी जादू जानती हैं । छोटे बच्चोंको पकड़ लेती हैं । बड़ी भयानक औरतें हैं । उनके यहाँ कोई जाता-आता नहीं । मनोरमागंजमें रहती थीं, ढेले मार-मारकर लोगोंने निकाल दिया । लड़की ! वह तो बिल्कुल चुड़ैल है । अगरचे ये लोग रिफ़्यूजी हैं तो रिफ़्यूजी बस्तीमें क्यों नहीं मरते जाकर ? रहतीं किस ठाटसे हैं, जैसे राजघरानेकी हों । तुम्हारे जैसा आदमी कैसे उनके झाँसेमें आ गया...! कौन जाने कैसे उनका खर्च चलता है और कौन उनकी मदद करता है ? तुम खुद समझदार हो, अपना भला-बुरा समझते हो । उनके यहाँ जाना तो दूर उस रास्ते निकलना भी बन्द कर दो इसीमें तुम्हारी भलाई है । कहना काम हमारा, मानना न मानना तुम्हारी मर्जी ।"

दूसरे कहते.........

"इन सालोंका क्या भरोसा, आजको रिफ़्यूजी हैं कलको हमारी गर्दन नापने लगें । इनकी चाल ऐसी है कि कितनोंके घर बिगाड़ जायेंगे । व्यापार-रोज़गार इनकी वजहसे अलग चौपट हो रहा है । थोड़ी पूँजीसे धन्धा करनेवाले इन महाजनोंके मुकाबलेमें हमारा बधिया बैठ जायगी एक दिन । हूँ ! मूँछों दही जमाये क्या बैठे हो, भाई साहब ?"

इधर लड़केको अपने आपसे ही फ़ुरसत नहीं...लड़कीसे पहचान होनेके बादकी घटनाओंके चित्र एकके बाद एक उसके दिमागमें मँडराते रहते...उन बेजान हाथोंमें कभी-कभी अचानक बिजली दौड़ आती है । शो केसमें रखी गुड़िया को वे पाना चाहते थे, पर वह उनकी पहुँचके बाहर थी । एक दिन गुड़िया बिक गई ।

"पहले-पहलेके दिन कपड़े बेचनेवाले छोटे-छोटे रूठी बच्चे दूकानपर आये । उस दिन वे हाथ बच्चोंको प्यार करनेके लिए उठे थे । बच्चे इधर-उधर दौड़ते फिर रहे थे, पकड़में नहीं आये । फिर दोनों हाथ गिर पड़े—

जैसे वधिकके वारसे अपराधीका सिर धड़से अलग हो जाता है; जैसे बन्दूक के छर्रे लगनेपर उड़ता हुआ पक्षी हठात् ज़मीनपर आ जाता है; जैसे बिजलीका झटका आदमीको एकदम ठेल देता है......

और उस दिन अपने माँ-बापके साथ आये उस सुन्दर अंग्रेज़ बच्चेको तो उन हाथोंने पकड़ ही लिया था, लड़का दौड़कर अपने माँ-बापसे लिपट गया, वे दोनों हाथ जैसे बिजलीसे चलते हों, एकाएक उठे, मनचाही वस्तु न पाकर, एक दूसरेसे लिपट रहे। फिर गिर गये, ज्योंके त्यों।

लड़का सोचता रहा...इसी बेबसीको दुनिया जादू कहती है? इतनी बातें सुननेपर भी जब लड़केके मुँहसे शब्द न निकला तो बोलनेवालेने उसे झकझोर डाला, गोया लड़केको उसकी खयाली दुनियासे बाहर खींच लिया। लड़का बोला--

"हाँ, जी"

ऐसे बेमेल जवाबको सुनकर लोग अक्सर झल्ला जाते और दूकानसे उतरकर अपनी राह लेते।

अब तो लड़केकी हर शाम बारह नम्बर नई बस्तीमें कटने लगी। माँ-बेटीसे मुलाकात होनेके बाद वह खोया-खोया-सा रहने लगा। उसके सारे काम पूर्ववत् चलते रहे, पर जो चीज़ बन्द हो गई वह था उसका गाना, जिसे पड़ोसी अब न सुन पाते।

करीब दो माह बाद पता लगा लड़केने इसाई धर्म स्वीकार कर लिया है। लड़कीको भी यही करना पड़ा, और माँ के बहुत रोकनेपर भी एक दिन गिर्जेमें जाकर दोनों पति-पत्नी बन गये।

हाँ, शादीके दिनकी बात है। लड़का करीब ग्यारह बजे दूकानपर आया और लोगोंने दूसरे दिनों बाद फिर सुना......"आयगा...... आयगा..."

उस रात उनका 'हनीमून' था। माँ, बेटी और दामाद बारह नम्बर नई बस्तीमें मेहमानोंका स्वागत कर रहे थे। शहरके बाहर इस बस्तीमें मुश्किलसे पाँच एँग्लो-इण्डियन कुटुम्ब थे। वे ही कुछ लोग आये, बैठे, खुश हुए और लौट गये। इसके बाद बुढ़ियाको दौरा आ गया। बमुश्किल तमाम रात बारह बजे, लड़का और लड़की बुढ़ियाको सुलाकर चैनसे बातोंमें लग गये...

"...आज मैं बहुत खुश हूँ।"

"...मैं भी।"

"...मेरे हाथ बेकाम न होते तो आज मैं तुम्हें अपने हाथोंसे टाई पहनाती!"

"खैर, जाने भी दो इन बातोंको। तुम मेरे पास हो, यही मेरे लिए बहुत है। आजकी रात तुम्हें अजीब-सी नहीं लगती क्या? मुझे लगता है आज मुझे किसीसे कोई शिकायत नहीं है। मेरा गानेको जी होता है। तुम नहीं गाती क्या?"

"नहीं, तुम गाओ, मैं सुनूँगी।"

लड़का गाता रहा। उसने लड़कीके दोनों हाथ अपने दोनों कंधोंपर रख लिये और बैठा रहा। लड़की खड़ी हुई सुनती रही।

'आयगा...आयगा...' ज़िन्दगीमें पहली बार इस खुशनसीबीने उसका दामन थाम लिया था। उसके रोम-रोममें खुशी समाई थी। फिर सोती हुई दुनियामें केवल दो ही जागनेवाले, तीसरा कोई नहीं। और लड़केका जादुई कंठ, जो आज बहुत दिन बाद खुला और दूरतक गूँजता रहा।

लड़का गाता रहा, लड़की सुनती रही, गीत गूँजता रहा। दुनिया सोती रही और दो हाथ, दोनों हाथ, गरदनसे दोस्ती करते रहे। फिर वे पास-पास आनेको उतावले हुए, मिलनेको बेचैन हुए, लड़केकी गरदन बीचमें

थी, वह दबने लगी। लड़का खुश हुआ कि आज उन नाज़ुक, खूबसूरत मर्मरी हाथोंके स्पर्शका सुख कैसे संयोगसे मिल रहा है !

पर अब गरदन ज़ोरसे दब रही थी। लड़केने गाते-ही-गाते अपने बलिष्ठ हाथोंसे उन नाज़ुक हाथोंको मिलनेसे रोकना चाहा, पर वे कहाँ रुके ? लड़केकी सारी ताक़त भी उन दो हाथोंको रोक नहीं सकी। वे मिल गये, पर किसीका दम घोंटकर।

मिसला मिश्र

१९५१ में लखनऊ विश्वविद्यालयसे राजनीतिमें एम० ए० कर मिसला मिश्र एक स्थानिक कालेजमें प्राध्यापिका नियुक्त हो गई थीं। तबसे वहाँ राजनीति पढ़ाती हैं और वाइस-प्रिंसिपल होनेके नाते दफ्तरका काम-काज भी देखती हैं। "बस, और कुछ नहीं। लिखना बहुत चाहा है, लेकिन लिखा बहुत कम है; शायद इसलिए कि आदतन ईमानदार बहुत हूँ। जिसका पूरा यक़ीन नहीं, वह लिखना नहीं चाहती।"

मिसलाजीका यह अनावश्यक आत्म-चेत और तीखी आत्मा-लोचना, जो उनके साहित्य-सृजनमें अवरोध बन चली है, गुणग्राही पाठकोंके लिए निश्चय ही खेदका विषय होगी; क्योंकि उनकी लेखनीमें एक ऐसी सरल मानवीय संवेदना और स्पष्ट ईमानदारी है जो अनायास ही मनको आलोडित कर जाती है। साम्प्रदायिक दंगेकी पृष्ठभूमिपर पत्र-शैलीमें लिखी हुई उनकी इस खरी और मार्मिक कहानीको पाठक सहज ही विस्मृत न कर सकेंगे।

• तीन खत

—मिसला मिश्र

[एक]

सलमा !

एक अरसेसे तुम्हें नहीं देखा; खबर भी नहीं मिली। ज़िन्दगीकी जद्दो-जहद इस हदतक पहुँच चुकी है कि अब रात-दिन इस पेटकी पड़ी रहती है। तुम्हें तो मालूम है, हम अब तीन व्यक्ति हैं—राजेन्द्र, मैं और अशोक। अशोक हमारा बच्चा है; पाँच सालका, बड़ा समझदार। कभी-कभी तो मुझे ताज्जुब होता है, यह बच्चा इतनी बुद्धि कहाँसे लाया है? पर राजेन्द्रका दावा है, उसका खानदान ही Intelligent लोगोंका है।

बच्चोंकी चाहना उस पेशाके शुरूमें तो कर ही नहीं सकती थी। पर उसके पालनेका ढंग, रहन-सहन, हज़ारों बातें थीं। कितनी बड़ी-बड़ी स्कीमें थीं, पर आज इस अशोकको कुछ नहीं दे पा रही हूँ। कभी-कभी दुःख होता है; हम मामूली-सी चीज़ें भी अपने बच्चेके लिए मुहय्या नहीं कर पाते।

तब राजेन्द्रने हाल ही कॉलेज छोड़ा था। युद्ध छिड़ चुका था। नौकरी मिल गई, और अब हाल यह है कि तनख्वाह है, भत्ता है, पर सवेरेसे शामतक घसीटते-घसीटते बजट खतम हो जाता है। कहाँसे उसकी पढ़ाई निकले, कहाँसे और खर्चे? अपना बचपन याद आता है, और इस अशोकका। कितना प्यारा-सा बच्चा है, और इसे ज़रा-ज़रा-सी चीज़के लिए डाँट देती हूँ। बाज़ारसे निकलता है तो दुतरफ़ा खिलौनोंको यों ताकता है कि बरबस हँसी आ जाती है और डाँट भी दो तो खिसिया जाता है। ज़रा-सा बच्चा है, पर रोता नहीं। हम क्लर्कोंके बच्चे आखिर इतना समझते हैं। मचलना तो उनका काम है। कितने अरमान हैं मेरी दोस्त,

इस अशोकको आदमी बना देनेके। और अगर यही हाल रहा तो क्या हो सकता है ? 'ज़िन्दगी तो एक खेल है' अहमद भाईका फ़िकरा याद आ जाता है। और उनके लिए वह खेल ही था। और अब भी ज़िन्दगी एक खेल है उनके लिए।

आज ही ज़रा बाज़ार जाना था और बाज़ार, तुम जानती हो, मुश्किलसे ज़रूरत भर रुपया जुटा पाते हैं, बाज़ार जाते हैं; वह चीज़ मिलती नहीं और रुपया खतम हो जाता है। ऐसे हैं यह बाज़ार। और दिनभर हैरान होते हैं सो अलग। और उस दिन पूरे पाँच घंटेकी हैरानीके बाद जब चीज़ दिखाई पड़ी, तो लगा पीछे भीड़में कोई बिल्कुल कन्धे तक झुक रहा है।

मैं घूमी। यों तो आजकल इस आम भगदड़के ज़मानेमें सबने तह-ज़ीबका खयाल बालाये ताक़ रख दिया है, पर फिर भी। घूमी तो अहमद my God ! मैं ऐसे चौंकी, और आप बड़े इतमीनानसे बोले, "मैं तो दरवाज़ेपर ही देख रहा था, पर तुम घूमी ही नहीं।" और मुझे सिर्फ़ एक ही बात सूझी, "आप मुझे पहचान गये ?" अहमद मुसकराये, "तुम्हें भूला ही कब था !" और मैं सामान लेना भूल गई। बिना लिये लौट आई। मैंने उन्हें उस दिन देखा था जब वह इंग्लैंड जा रहे थे। उसके बादसे आज देखा था, एक जौ भर भी तो नहीं बदले हैं। बातें करते रहे दुनिया भरकी, अपनी, तुम्हारी, मेरी—और सलमा, तभी आज तुम्हारी याद आ गई है। याद आते हैं वे दिन; जब हम एक थे। तुम तो आज भी बड़ी हो, कभी हम भी थे। तुम तो आज भी ज़मींदार हो, राजा बाबू हो। सुना है—मियाँ बड़े लीगी हैं। हमारी क्या, एक क्लर्ककी आदमियत ही कितनी ? पर सलमा, जिन्हें भुलाते पाँच सालका ज़माना निकल गया, वे दिन अहमदने एक झटकेसे याद दिला दिये। इस ज़िन्दगीके रोज़-नामचेके कुछ पन्ने कितने प्यारे होते हैं सलमा, जिनकी याद इन्सान अपने

सीनेमें किसी गहरे राज़की तरह छिपाये फिरता है, और फिर एक ज़रा-सी ठेसपर याद बिखर जाती है। अहमदने आज उस दबी यादको यों ही कुरेद दिया—सोचो तो। एक लमहेमें इतने सालोंका अन्तर मिट गया। मुझे आज भी अहमदको पाकर उतनी ही उलझन थी, उतनी ही झिझक। पर अहमद अब खुल गये हैं। दिन बीत गये। उस जज़्बाती तूफ़ानका दौर अब ख़तम हो चुका है—अब तो हम इसपर बात कर सकते हैं। कलकी-सी याद है। जो बात तुम्हारे लाख पूछनेपर भी कभी इक़रार नहीं कर सकी थी वह आज मान लेती हूँ। खुद बता भी दूँगी—तब जो एक हंगामा खड़ा हो गया था, अहमदको घर छोड़ना पड़ा, यह सब कैसे हो गया यह तो आज भी नहीं समझ पाती हूँ।

वह दिन याद है जब यकायक आकर एक दिन तुमने कहा था, "सुनो प्रीति, यह अहमद भाई हैं न, बड़ा गड़बड़ कर रहे हैं।" "क्यों?" और तुमने बड़े बुज़ुर्गोंकी तरह संजीदा होकर कहा था, "वह किसीसे प्यार करते हैं।" मैंने भी अनजान-सी पचीसों बातें पूछीं थीं। पर आज पूछती हूँ, क्या था जो वह किसीको प्यार करने लगे। उन्होंने कोई गुनाह तो किया नहीं। प्यार जब होता है, हो ही जाता है। अगर नाप-तोल, जाँच-पड़ताल लायक संसारी बुद्धि काम ही करे तो कोई प्यार न कर, व्यापार ही क्यों न करे। और प्यार! वह शायद तब मैं भी नहीं जानती थी।

उन दिनों जब नये-नये आये थे घरके लोग, नई जगह थी, रोज़ घूमने चल देते थे। घर भरमें अकेली पड़ी रहती थी। टाइफ़ायडसे हालमें ही उठी थी—कमज़ोर, चिड़चिड़ी। उस दिन शायद किसीकी दावत थी। पार्टीका इन्तज़ाम हो रहा था। बहुत बड़ा इन्तज़ाम था। और मैं बाहर, उपेक्षित-सी पिछले बरामदेमें यूँ ही कुर्सीपर पड़ी थी। सारे दिन बादल घिरे रहे। ऐसे दिन जाड़ोंमें कितने प्यारे लगते हैं! सनसनाती हुई हवा, घूमते हुए सूरजमुखी! और वह बारह-तेरह सालकी टाइफ़ायडके बाद कमज़ोर,

चिड़चिड़ी लड़की जब लड़कर किसीकी परवाह न पाकर बरामदेमें खीजकर पड़ रही तो बरबस अपनी असमर्थतापर रुलाई आ गई। पड़ी-पड़ी रोती रही। पाँव हिलाती रही और यकायक एक फ़ुटबाल दनसे आकर पेटमें लगा। एक क्षणको सब ऊपर-नीचे नाच गया। तिरछी होकर उलट रही कुर्सीपर। जब दुनिया घूम चुकी तो खिलाड़ी भी दीखे। फेंकनेवाला लड़का तब आकर अपनी बॉल ले गया। उतना बड़ा लड़का, क्या कहती? और तबसे अक्सर वह शायद उस क़सूरके एवज़में ख़ैर-ख़बर ले लेता, तस्वीरें ला देता, तितली पकड़ देता, और यह देना-पावना सालोंमें बढ़कर किस दिन इतने पैमानेपर अदल-बदल करनेको तैयार हो गया, कोई न जान सका।

तुम्हारी चचीको अहमदका मज़ाक बनाते मैंने भी देखा था, पर तब तक मुझे ख़ुद पता कहाँ था? वह तो उस दिन तूफ़ानके बाद जब लगा कम्पाउण्डका कम्पाउण्ड तक हिल उठा। चलते वक्त अहमद आये। अपने कमरेमें बैठी मैं तब किसी काममें लगी थी। खिड़कीपर छाया पा, सर उठाकर देखा अहमद थे। "मैं चला जा रहा हूँ..." मैं उन्हें ताकती भर रही... "तुम्हें हिन्दू-मुसलमानमें फ़र्क लगता है प्रीति?" लेकिन मुझे तब नहीं लगता था, और अब तो वे सब दीवारें ढह ही चुकी हैं। मैंने कहा, "नहीं!" और उस दिन पहली दफ़ा अहमदने अपनी ज़ुबानसे कहा था, "प्रीति, तुम्हें प्यार करता हूँ, कबसे करता हूँ यह नहीं जानता। पर करता रहूँगा ज़िन्दगी भर, यह अच्छी तरह जानता हूँ।" और दूसरे दिन अहमद चले गये। मुझे मालूम था उनके रहते भी और उसके बाद भी। मेरे पिता और तुम्हारे अब्बामें रोज़ बातें होती रहीं। मैंने ख़ुद विलायती डाकके लिफ़ाफ़े पिताके कमरेमें धरे देखे; पर वे ख़त क्या हुए मुझे नहीं मालूम, ढूँढनेपर भी नहीं मिले। और अहमदने मुझे लिखा! इतनी ख़त-किताबत के बाद पहलूका रूख़ मालूम हो ही गया होगा! मुझे ख़ुद नहीं समझ

पड़ता था कि आखिर यह इन्सान-इन्सानमें भेद कैसा ?...इन्सान इन्सान को चाह न सके, प्यार न कर सके ! हफ्तों उलझी रही। फिर तो यकायक हमारी किश्ती उलट गई। वह मँझधारमें तो थी ही जैसी कि सभीकी रहती है। ज़िन्दगीकी उस भाग-दौड़में किसे इतना ख्याल था कि कल कैसा आयगा। और एक दिन जब ज़िन्दगीकी गाड़ी उस अपनी चिकनी सपाट राहसे चूक गई तो आज भी वहींकी वहीं है। और क्या बुरा है, एक हद तक खुश भी हूँ। ज़िन्दगी भरकी उस अनिश्चित राह—न ज़मीनपर पाँव, न सतहपर क़ाबू—उस ढुलमुल ज़िन्दगीसे हट अब हम एक ठिकाने तो आ लगे हैं। हाँ ज़मीन है, सो भी कंकरीली, नग्न, बेहया। एक क्लर्ककी आदमियत ही क्या ! मगर खैर। मुझे पता था सलमा, खूब समझती थी। सोसायटीके खम्भे पोले हैं, खोखले, ज़मानेकी हवाका एक झोंका भी इन्हें भरभरा देनेको काफ़ी है। हज़ारों दफ़ा सोचा, समझनेकी कोशिश की, पर आश्चर्य आज भी है। वह बड़े-बड़े दिमाग़, वह सरग़ाना दुनिया भरकी सोचा किये, अपनी कभी नहीं सोच पाये। तड़क-भड़क, नाच-रंग, सैर-सपाटे, दोस्त-दावत कौन नहीं समझता था, यह बढ़िया मौसम भरकी है। क्लाइमेक्स आया—वह दफ्तीकी आलीशान इमारत ढही भी तो शानके साथ ! हर बातमें बड़ोंकी नक़ल भर थी। हम मध्य-स्थितिके लोग तब भी पोले थे, आज भी हैं। मुझे ताज्जुब है किस हिम्मतपर यह ऐशका ताज़िया पग-पग पर हिलता-चलता था। मिनट-मिनटकी खैर मनानी पड़ती थी। वह अनिश्चितता, आये दिनका वह शशपंज उनका दम क्यों नहीं घोंट देता था ? और एक तहलका मचा—माँका हार्टफ़ेल हो गया। खबर ही ऐसी थी। पिताने खुदकशी कर ली। उनकी वह शकल, रग-रगकी ऐंठन, खिचा हुआ चेहरा...उस ऐशपसन्दीका अन्जाम, एक मशहूर इञ्जीनियरकी ट्रेजेडी, चन्द अखबारोंकी कटिङ्ग और बस...हमारे सर-सब्ज़ घोंसले जो लू-लपटमें भी फूलते-फलते थे अपनी नमी खो बैठे। एक तूफ़ान आया, किश्ती उलट

गई। यह समयका तकाज़ा था। एक अल्टीमेटम—हम तुम्हें बदलनेको मजबूर हों इसके पहले तुम बदल जाओ बेहतर यही होगा, नहीं तो नेस्त-नाबूद होगे और नेस्तनाबूद ही हुए! आह सलमा! अब तुम्हीं कहो—उस गुज़री कहानीमें ऐसा है भी क्या जो सहेजा जाय...तबसे सब भुलाने की कोशिश की। जीवनके उस अन्धड़में जब सब वीरान हो चुका था, जीवनके उस अनजान चौराहेपर इस राजेन्द्रने राह सुझाई। मेरे भाग्यकी प्रचण्ड-धारा जब किनारे-कगारे ध्वंस करनेपर तुली थी तो यही राजेन्द्र किनारेका वृक्ष बन साध बैठा था। तबसे यही आश्रय है सलमा। इस राजेन्द्रने मुझे क्या नहीं दिया; अब तो घर है, द्वार है, पति है और यह अशोक है—

तुम हँसोगी, यह राजेन्द्र अब तक मुझमें, अपनेमें फ़र्क मानता है। बरसों तक झेंप गई नहीं। घरके खत दबाये रहता है। हमारे पुराने संस्कार अब तक उसपर हावी हैं। अपनेसे वह मुझे ऊँचा समझता है। यह वह घाव है जो हम दोनोंको कोंचता है। काश मेरा वह ज़माना कुछ न होता, राजेन मुझसे खुल सकता। अब तो इस जीवनके हम आदी हैं। छः साल बीत चले, पर आज भी कभी उसका व्यवहार खुल जाता है। मैं चुप रह जाती हूँ। आज ही अहमदसे बातें करते-करते देर हो गई: अहमदका इसरार था मैं उन्हें स्टेशन तक छोड़ने चलूँ, और आधे रास्ते मुझे जैसे ख्याल आया, "अहमद, मैं नहीं जाऊँगी। तुम्हारी बेगम साथ होंगी। मुझे न जाने कैसी उलझन लगेगी।" लेकिन अहमदको सब खिलवाड़ है—तुम्हारे तो भाई हैं, तुम्हें क्या बताना। मुझे बेवक़ूफ़ बनाने लगे—"हाँ है तो बेगम साथ, पर चलो तुम तो देखने लायक़ हो प्रीति, मियाँकी जान मुसीबत बना देनेवाली तुम्हीं हो। उसे देखना चाहिए।" लाचार जाना पड़ा। वहाँ कोई न था। मैं उन्हें पहुँचाकर लौट आयी। चलते-चलते बोले, "कभी आऊँगा प्रीति, तब तुम्हारे यहाँ

ठहरूँगा। हिन्दुस्तानका इतिहास लिख रहा हूँ। इस लखनऊकी जगह नये इतिहासमें भी होनी चाहिए; और मेरी दिलचस्पी इन बातोंमें तुम जानती हो, नहीं के बराबर रही है।" मैं चुप रही। देर हो रही थी। मुझे ख्याल हो रहा था, अशोक लौट आया होगा। अकेला बैठा होगा। पर घर पहुँचकर देखा—बाप-बेटे दोनों पड़े हैं। मुझे सच ही बुरा लगा—देर हो गई थी। चुपचाप अन्दर चली गई। जल्दीसे खाना तैयार किया। अशोक लगा अहमदके बारेमें पूछने। मैं तुम्हें कह चुकी हूँ सलमा, यह अशोक इतना जिज्ञासु है कि मेरी अक़ल हवा हो जाती है! कहाँ तक जवाब दूँ! राजेन्द्रसे ही ख़ूब पटती है। बराबरवालों जैसा तो बर्ताव करता है। मौज होती है तो 'राजेन सुनो दोस्त' और नहीं तो चुपचाप भी पड़ा रहता। आज अहमदमें न जाने क्यों फिर उसकी दिलचस्पी जाग उठी। उसे क्या बताऊँ, मैं तय नहीं कर पाती। अपने अतीतमें सिर्फ़ एक ही राहत है, राज़ है, वह खोल देना मुझे उचित नहीं लगा। चुप रही। और राजेन्द्रका और भी बेढब मुक़ाबला था। राजेन्द्रके इस रूपकी कल्पना भी नहीं की थी। मैं लौटी तो चुप पड़ा था। मैंने समझा, थका है, सो लेने दो। पर जब पड़ा ही रहा, मनमें एक खटक उठी। 'आख़िर है क्या?'—मैंने आवाज़ दी तो चुप। और अशोक बोला, "दिक न करो भाई, राजेन बीमार है। क्यों राजेन?" मैंने सिरपर हाथ रखा, गर्म नहीं मालूम हुआ। मुझे ताज्जुब था, क्या मामला है! छटनी तो एक तरह जानी हुई है। "क्या बात है राजेन?" मैंने हिलाया आख़िर। "कौन था तुम्हारे साथ आज?" करवट बदलकर पहला सवाल राजेनने किया। ओह सलमा, तुम राजेनकी वह सूरत देखतीं। बेबसी कभी इतनी सजीव हो सकती है! राजेन कभी सुन्दर था ही नहीं। उसकी कुरूपता आज कितनी भयानक लग रही थी! मैंने आज तक किसीको सफ़ाई नहीं दी और आज ज़रूरी था कि दूँ। नहीं तो इस कमज़ोर इन्सानकी हत्या होगी।

मेरा हाथ आप-से-आप हट गया। वह अब भी ताक रहा था मुझे। एक क्षण भरमें मैंने जवाब दिया, "राजेन तुम्हें मुझपर अब भी यक़ीन नहीं है?" और ज़िन्दगीमें पहली दफ़ा राजेन खुला, "प्रीति, सवाल यक़ीनका नहीं है। समाजमें आज मेरी हैसियत क्या है? मैं जो कुछ हूँ, जानता हूँ। सूरत नहीं है, हैसियत नहीं है; मेरी कमज़ोरी कभी उतावली हो जाती है। तुम्हें क्या दे सका हूँ? मेरे पास पैसा भी नहीं है प्रीति, अगर मैं......"

"पैसा तुमसे बड़ा हो सकता है राजेन?" मैंने कहा—

"हाँ, मैं ग़रीब हूँ, मजबूर। और प्रीति, आज मुझे यह माननेमें शर्म नहीं आती कि मुझे भी ज़िन्दगीकी हविस है। यह कुत्तोंकी ज़िन्दगी!... तुम यक़ीन पूछती हो, मुझे खुदपर यक़ीन नहीं। कल मैं अभावोंमें क्या कर बैठूँ?"

उसके आँसू भर आये। मुझे ज़ब्त करना आता है। पर ज़ब्तकी भी हद होती है। वहाँसे उठकर कमरेमें आकर पड़ रही। मैंने खानेको नहीं पूछा, पीनेको नहीं पूछा; ज़िन्दगीकी भयानकता मेरे आगे साफ़ हो गई। इन्सान क्या पा रहा है सब खोकर! कभी-कभी जीमें एक हलचल मच जाती है; कहाँ जा रही है यह नाव, खेवैयापर भरोसा नहीं। मुझे ऐसी जगह रोना नहीं आता। ज़िन्दगीमें बेहयापन दिन-दिन बढ़ रहा है। आये दिनकी मुसीबतों और खटखटोंने जीवनकी भावुकता सोख ली है। बाक़ी है सोचनेकी क्रिया, और वह जब तुम ख्याल करोगी, लगेगी कितनी भयानक है! जवान इन्सान अगर जीवनकी निस्सारता ही सोचने लगे तो ज़िन्दगी बेरौनक़ होनेमें क्या बाक़ी रह जाता है! पर इन हक़ीक़तोंपर पर्दा डाल इन्हें रंगीनियाँ मान लेनेके लिए वह अज्ञान, वह मूढ़ता, कहाँसे लाऊँ? समझदारोंकी भी कैसी मुसीबत है! राजेन उठ आया, मगर माफ़ी नहीं माँग सका। एक दिन आता है सलमा, जब भावुकता चुक जाती है, मान-मनौवल

की गुंजाइश नहीं रहती; सुनने-समझने किसी चीज़की गुंजाइश नहीं रहती। बाक़ी रहता है एक बोझ ढोना।

"अपनी कमज़ोरीके लिए दुःखी हूँ प्रीति! प्रीति, तुम उसे समझ सकती हो। तुम ही तो एक मेरा सम्बल हो। जितना ही कमज़ोर होता जाता हूँ उतना ही तुम्हें कसकर थामना चाहता हूँ।"

अब तुम्हीं कहो, उसे माफ़ करनेको क्या बचा था? और क्या कह-कर वह माफ़ी माँगता? और इस तिल-तिलकर घुलनेवाले मानवपर मेरा दुःख तुम क्या समझोगी? मैं कितना रोई। अहमदके बारेमें वह सुन चुका है मुझसे ही। पर अचानक एक वक्त जब जिस्मकी तमाम कुव्वतोंसे जवाब पा वह घर लौटे, उसे उसका बेटा बतावे—उस आदमी-की याद दिलावे—जो उसका घर बसनेसे पहले, उसके और उसका घर बसानेवाली हस्तीके बीच आ चुका हो, जिससे उसे जलन न हो, हार मंज़ूर हो। मजबूरी सोचो सलमा, एक मिनट! कितनी बड़ी ट्रेजेडी है! मैंने उसे माफ़ कर दिया...यह तो उसने मुझे बादमें बताया, ऑफ़िसमें उस दिन आम नोटिस आया था तीन महीनेका, और यह नई बात नहीं है। यह तो जाना हुआ था। जब लड़ाई खतम होनेकी प्रार्थनाएँ की जाती थीं तो कुछ ऐसे भी थे जो इस लगी आगमें पेटके टिक्कड़ सेक रहे थे। इसलिए लड़ाई खतम होनेपर सदमा भी उनको ज़रूरी था। और तुमसे सलमा क्या चोरी! उस दिन छुट्टी थी, और हम कहीं जानेको तैयार खड़े थे, जब यकायक गहरे शोरके साथ साइकिलपर अख़बारवाला चिल्लाता चला गया था—लड़ाई खतम हो गई। सुनकर एक मिनटको हम खुश हो गये और दूसरे क्षण राजेन फ़क्क् चेहरेसे बोला, "मैं नहीं जाऊँगा। मेरी तबियत ठीक नहीं!" सच बात है सलमा, हमें धक्का लगा था! कितना बड़ा स्वार्थ।...अंदर आकर फ़िलॉसफ़रोंकी तरह बुझी मुसकान बिखेरकर राजेन बोला, "घोंसला समेटो प्रीति, दिन बीत गये!" देखा

सलमा, उस दिन जब दुनिया खुशीके आँसू रोई, बिछुड़ोंकी मुरादें बर आईं, सियासतकी दम घोंटनेवाली आबोहवामें जवानी-मस्ती भर गई; हम जल्लादोंसे सहमकर रह गये।...यह है हमारी ज़िंदगी! और तबसे ही यह घर, यह छोटा-सा घर, यह छोटी-सी गृहस्थी—इसका क्या होगा, यह चिन्ता सवार है। जब दुनिया भरके भत्ते मिलते थे तभी पहलीसे तीसतक सौ दफ़ा मरकर जीते थे, तो अब क्या होगा?...दुनिया वही, तेज़ी वही, सिर्फ़ नौकरी नहीं होगी। सही मसला तो अब आया है। अब तक किनारोंकी जंग थी, अब घरेलू है। मुझे तो कुछ सूझता नहीं। यह भी सब अहमद ही बता रहे थे। अब बैठे-ठाले आदमीको सोचनेको वक्त मिलता है तो ज़मीन-आसमानके कुलाबे मिलाते हैं। हमें तो क्या बतायें चैन नहीं, आराम नहीं; और सच पूछो तो तकलीफ़ोंका हिसाब लगानेको वक्त तक नहीं मिलता। मगर फिर भी यह खत लम्बा हो गया, इतना कि मुझे खुद ताज्जुब है। पर सात साल बाद लिख रही हूँ और तुम्हें कमसे कम पढ़नेका वक्त तो मिलेगा ही सही, पढ़ लेना। सुबह तक खयाल न था और दोपहरमें अहमदने मिलकर तमाम सालोंका फ़र्क मिटा दिया। और लम्बा होते हुए भी खतमें सब हिसाब साफ़ है, बाक़ी कुछ नहीं। बस...

तुम्हें मेरा प्यार

—प्रीति

[दो]

नज़ीर मंज़िल,
नज़र बाग़,
लखनऊ,

सलमा!

खत पाते ही तुम खुराफ़ात उगलोगी, मुझे यह यक़ीन था। तभी तो सब पहले ही लिख दिया था। अब और क्या बाक़ी है? रोमांस!

नहीं, अब और नहीं सूझती। तुम्हीं सोचो और तुम्हींको मुबारक हो। ज़िन्दगीमें आराम है और बेफ़िक्री, खूब खुराफ़ात सोचो। मुझे क्या कहना है, और अहमदके लिए क्या बताऊँ ! एक रूहानी प्यार, या जो कुछ कहो मुझे उनसे रहा है और रहेगा भी। कुछ बातें हैं ज़िन्दगीमें सलमा, जिन्हें हम भुला नहीं पाते। वह सैलाब, वह जुनून और अहमद, ...पर जाने दो...वह बात उन दिनोंकी है जब हम जवान थे, रंगीनियाँ थीं, बहारें थीं, अब तो ज़िन्दगीमें फ़कत एक प्यास बाक़ी है—न साक़ी है, न शराब है, और हविस भी तो मिट गई है। अब तो महज़ एक कोरम पूरा करना है। ज़िन्दा हैं, इसलिए कि और कोई काम नहीं सूझता !

आजकल न जाने कैसी नहूसत छाई रहती है। एक अजीब उधेड़-बुनमें दिन कटते हैं। राजेन अजीब हैरान है। नोटिस पंद्रह दिनमें खतम हो जायगा और नौकरी अब तक नज़र नहीं आती। सुबहसे शाम तक भागदौड़में। रात गये घर लौटता है। मुँह दिन-दिन सूखता जाता है। कल कह रहा था, कहीं एक मिलमें किसी एक मेकैनिककी ज़रूरत है और राजेन तैयार है। अभी काम कहीं सीख लेगा और काममें लग जायगा। रात गये काला-धुंध होकर लौटेगा...मुँह अँधेरे भागेगा...

देखा सलमा ! क्या तेज़ीसे सीढ़ियाँ उतर रहे हैं। कभी हम पैसेवाले थे। कभी दिमाग़की कमाई खाते थे। आज हम श्रमजीवी हैं। ठीक ही है। जो होना है, होकर रहे। इंतज़ार क्या ? दबाव जितनी जल्दी पड़ता है, जितना गहरा पड़ता है, प्रतिक्रिया उतनी ही टिकाऊ होती है। और इस दबावकी भी कहीं न कहीं तो हद होती है।

सलमा ! पिछले खतमें तुम्हें लिखा भी था कि फ़िक्र सवार है 'क्या होगा ?' दिमाग़ ज़्यादा काम नहीं करता। सोचनेकी आदत तो कभी नहीं थी। पर अब यह दिन विवश कर रहा है। कैसे एक-एक दिन करके हम

मुसीबतज़दा एक हो रहे हैं। ज़माना लाचार कर रहा है—कुछ सोचे। और तुम जानती हो, मेरा दिमाग़ राजनीति नहीं समझता है। ज्यादा बातें तो नहीं आतीं! क्यों हुआ? क्या हुआ? और क्या होगा?... यह मेरी बुद्धिके बाहर है। फिर भी ज़िन्दा रहनेका अधिकार हमको चाहिए ही। इंसानियतका तकाज़ा है, ऐश-आराम मयस्सर न हो, ज़िन्दगी क़ायम रखनेको रोटी तो चाहिए ही, जब इतना भी न मिले तो इंसान क्या करे?

मुझे कोई समझाये सलमा, (तुम्हारा तो सियासतसे ख़ानदानी रब्त-ज़ब्त है, अब भी एक लीगी नेताकी बीबी हो) आख़िर इस भुखमरीका, कंगालीका भी इलाज है? अब यह बर्दाश्तसे बाहर है। घर ख़ाली है, बक्स ख़ाली है, पेट ख़ाली है, जेब ख़ाली है, और किसीके भरनेकी उम्मीद नज़र नहीं आती।

बेकारीका राक्षस मुँह खोल चुका है। फटेहाली गज़भर फ़ासलेसे घूर रही है। दफ्तरोंके स्टाफ़ पतझड़के बेकार पीले पत्तों-से झड़ रहे हैं, ऑफिसकी डबल-रूटीन जिनकी ज़िंदादिली चूस चुकी है। आये दिन 'रोटी दो, कपड़ा दो' का शोर मचता है; मचकर रह जाता है। तंगी दबाती चली आ रही है; हमारी आदमियत इस बोझसे दबी दम तोड़ रही है......और वतनके लीडरोंको हमारी फ़िक्र नहीं, उन्हें अपने झगड़ोंसे फ़ुरसत नहीं! अपनी टेक (कितना स्वार्थ है सलमा!), अपनी बात रखनेके लिए यह प्यारा लहू, यह इंसानका लहू इन कंकरीली सड़कोंकी दरारोंमें भरा जाता है...... पैरों रोंदा जाता है......

वह कौन-सी वहशत है जो अच्छे-भले इन्सानको ख़ूँख़ार बना देती है? सदियोंसे सीखी हुई तहज़ीब एक लमहेमें भुलाकर इन्सानमें ख़ुदग़र्ज़ ख़ूँख़ार इन्सान जाग उठता है। लाशें तड़प उठती हैं। घर वीरान हो जाते हैं। बच्चे यतीम हो जाते हैं। बीबियाँ लावारिस हो जाती हैं।

दिलोंपर पड़ जाते हैं वह गहरे नासूर जो फूटते नहीं, रिसते रहते हैं।

यह दरारें, यह वह खाइयाँ हैं सलमा, जो पूरी नहीं जा सकतीं। कैसे पुरें मरने वालेकी यादें? कैसे मुमकिन है मिट जाय उनकी तसवीर!

यहीं एक ख्वाजा साहब रहते हैं। नजमा उनकी एकलौती लड़की है। खासी सुन्दर लड़की है। उस दिन बम्बईके दंगेमें बेचारीका पति मारा गया! सलमा, सलमा! उसका दुःख, उसका विलाप मुहल्ला हिलाये देता है।

जानती हो क्या कहती है—"हाय अब्बा, जमील मारा गया! मैं जमीलको खोकर इस पाकिस्तानसे क्या भर पाऊँगी!" और सलमा! हम अपने खून और ज़िन्दगीकी क़ीमतपर पालकर उन प्यारोंको इस खूँरेज़ीके हवाले कैसे कर दें......और इस पाकिस्तानसे लोगोंको नाराज़ी क्यों है, मैं समझ नहीं पाती। बच्चे नादान रहते हैं, साथ-साथ निभ जाती है। वही जब बड़े हो जाते हैं, स्वार्थोंकी टक्कर होती है। हक़ोंपर चोट पड़ती है। एका चटख़ जाता है।

बुज़ुर्गोंका दिल गवाही नहीं देता। पर वे बच्चे तो अलग होकर रहते हैं। जवान लड़के जब घर-द्वार लेकर अलग रहना चाहें तो उन्हें रोकना कहाँकी अक्लमन्दी है। अपने पसन्दका घर, अपने पसन्दकी ज़िन्दगी, यह तो हरेकका हक़ है। उसको दबाना कहाँका इन्साफ़ है? मुझे ज़्यादा बातें तो नहीं आती हैं। राजनीति जाननेकी फ़ुरसत ही कब मिली? फिर भी इतना तो समझ पाती हूँ कि जबतक समाजके इस सदियों पुराने ढाँचेको बदला नहीं जाता नये इन्सानकी नई माँगें, नई उमंगें उसमें फ़िट नहीं कर सकतीं। यह तो ज़रूरतके मुताबिक़ नई चीज़में ही मिल सकती है।

ज़मीनका बटवारा ही खुशहाली नहीं ला देगा। उसके लिए तो नया हिन्दुस्तान बनाना पड़ेगा और यह नया हिन्दुस्तान क्या इन पुराने दिमाग़ोंसे हासिल होगा जिन्हें आज हम जवानोंकी

दिखाई राहपर चलनेमें एतराज़ है? ज़मानेके साथ इन्सानकी ज़ेहनियत बदलती है, सभ्यताके हरबे-हथियार बदल जाते हैं और सदियों पुराने दिमाग़ उस सत्यको भी नहीं मानना चाहते। वे मानें या न मानें, जब ज़रूरत होती है राह बन ही जाती है, और आज ज़रूरत है तो राह आप बनती जा रही है। लीडरोंको तो अपनी-अपनी है, और इस बीच हमारी हालत बदसे-बदतर होती जाती है। दम तोड़ने को आ पहुँची है। आज हमलोग किस तूफ़ानसे गुज़र रहे हैं, उसे न पूछो सलमा! तुम रईस हो, रईसज़ादी हो। रोमान्स और हक़ीक़तका कोई मुक़ाबला नहीं है।

मेरा तुम्हारा भेद ख़तोंसे ज़ाहिर है। मेरी इतनी दास्तान सुननेके बाद भी मुझे बताती हो अहमद मेरे बारेमें क्या कह रहे थे। बख़्शो मेरी जान। मुझे सब पता है। वह सैलाब, वह जुनून! कभी मैं भी जवान थी। दुनियाके ज़र्रे-ज़र्रेमें रोमान्स नज़र आता था...और आज मन इन्सानियत खोजता है। राशनकी दूकानपर कपड़ेकी धक्कम-धक्कामें जब कोई टकरा जाता है तो बेचारेपर तरस आ जाता है। उसकी नज़रोंमें रोमान्सकी खोज। वह दिन बीत गये...मैं कह रही थी...ठहरो...देखो कोई आया है दरवाज़े पर। दो मिनट, अभी...

हाँ राजेन था। इसे क्या हो रहा है सलमा! मुझे बड़ा डर लगता है—राजेन वह लकड़ी है जो झुकती नहीं, टूट जाती है...और इतने मासूम दिलोंका आजके हिन्दुस्तानमें क्या गुज़ारा है। चुप पड़ा है। कल पूछ रहा था कितने रुपये हैं मेरे पास। तुमसे भी नहीं छिपाऊँगी...कुल ५७॥=) हैं। मैं इस राजेनको बहलाना चाहती हूँ, पर कैसे? यह नहीं समझ पाती......और आज तो कलसे यह अशोक भी बीमार है। रह-रह कर कहता है, गला जकड़ रहा है। न मालूम इसे भी क्या हो रहा है। हरारत तो ज़्यादा नहीं है......

इसकी ज़रा-सी बीमारीपर मेरे होश बिगड़ जाते हैं। न जाने क्यों यह राजेनका अशोकपर हदसे ज्यादा प्यार कभी-कभी डरा देता है। राजेन इतना बदक़िस्मत क्यों है सलमा, जिसका दुनियामें मुझे और अशोकको छोड़कर कोई नहीं!...एक मिनट...देखो, फिर खाँस रहा है... अशोक...अशोक...

अच्छा सलमा, फिर लिखूँगी। इधर वक्त कम मिलता है, इसलिए सोचा आज ही लिख लिया जाय, फिर जाने कब फ़ुरसत हो।

यह अशोक न जाने कैसा-कैसा कर रहा है। फिर सलमा, मुझे अब कुछ कहना बाक़ी नहीं है। तुमने अब सब जान लिया।

फिर लिखूँगी, यह अशोक आज न जाने क्या कर रहा है...जवाब देना!

सलमा मेरा प्यार!

—प्रीति

[तीन]

नज़ीर मंज़िल,
नज़रबाग़,
लखनऊ

सलमा!

क़हर बरपा हुआ सलमा इस नाचीज़ इमारतपर, और वह ढह गई; बिना किसी शोर-ग़ुलके। अशोक मर गया! आज दो दिनसे राजेनका भी पता नहीं है। उस रात जब तुम्हें खत लिख रही थी, हलकी हरारत थी। गलेमें ख़राश बता रहा था। सबेरा होते-होते डिपथीरिया हो गया सलमा। पर मैं यह तब न जान सकी। राजेनकी आँखमें एक बूँद नहीं आई। आख़िर वक्त जब उसे रह-रहकर ऐंठन हो रही थी उसने यकायक हाथ फैला दिये। मैं झुकी, सोचा शायद कुछ मुझसे चाहता है, पर अशोक चारों तरफ़ देख रहा था, राजेन झुका। अशोक गलेपर झूल गया।

आख़िरी बार (अशोक !) राजेन अपने दोस्तसे मिला और निर्जीव शरीर बिस्तरपर रह गया।

ज़िन्दगी क्या है सलमा ! कल तक जो हममें से था आज दुनियामें उसका कोई हिसाब बाक़ी नहीं। लोग घर बदल देते हैं, सामान फेंक देते हैं...जो बीत गई सो बात गई...और मैं यहाँ क्या-क्या हटाऊँ ?... ज़र्रे-ज़र्रेमें अशोक रम रहा है। इस घरमें हमसे ज्यादा उसकी साँस रौशन थी।

बीमारीकी हालतमें उसकी साँस जब घुट-घुट जाती, गलेमें खर-खर कफ़ खरखराता, और वह छटपटाकर साँसके लिए बिस्तर पर तड़पता। उसके धारों आँसू बह चलते और हम असहायसे पास खड़े थे बिल्कुल लाचार......और हमारा बच्चा हमारे सामने तड़प रहा था।

हम उसका इलाज भी न करवा सके सलमा ! यही कलंक रह-रहकर आता है। हम उसे ज़िन्दगीमें कुछ न दे सके तो सलमा वह मौत भी अकेला ही झेल ले गया।

हमारे पास कुल ५७।।=) थे और एक इंजेक्शन २५) का आता है। छः इंजेक्शन ! हम इतना कहाँ पाते सलमा ! मेरे पास ज़ेवरके नाम एक छल्ला नहीं है, तुम्हें तो मालूम है...अमीरी छुट चुकी थी जब घर छोड़ा। और यह राजेन क्लर्क-पेशा, पेटकी रोटी ही नियामत थी। पैसेकी क़ीमतका आज ख्याल हुआ जब मैं अशोककी जानसे हाथ धो बैठी। आह पैसा ! मेरा अशोक पैसे-पैसेको तरस गया। मामूली खिलौने तक न दे सकी। उसके कपड़े दबा-दबाकर रखती रही और वे अब तक पड़े हैं। पहननेवालेकी दरकार खतम हो गयी। मेरा यह बच्चा सलमा तस्वीरों वाली किताब तकको तरस गया...

खींचा पैसा उसके भी काम न आ सका। हम उसका इलाज भी न करवा सके सलमा ! राजेन पागल होकर दौड़ा। घर-घर माँगा और

मायूस होकर लौट आया। उसका प्यारा अशोक तकलीफ़से छटपटाता था और राजेन आपका दिल लिये बुत-सा खड़ा ताकता रहा।

दिया बुझ चुका था। घर भरपर मौतका अँधेरा छा गया था। अशोकके जिस्ममें अब भी गर्मी बाक़ी थी। मुझे यक़ीन नहीं हो रहा था। यह ख़्याल कि जिसे हम प्यार करते हैं वह अब नहीं है, कितना डरावना होता है! Ah God! what a fearful thing, to see a human soul take wing.

सलमा, मौत किसीके बसकी बात नहीं। जो पैदा होता है वह मर भी जाता है। पर जो बीमार दवा भी न पा सके उसके माँ-बाप वह सदमा नहीं भूल सकते। मैं सोचती हूँ सलमा, काश हम उसकी दवा करा पाते तो वह बच ही जाता। रह-रहकर यही ख़्याल मुझे बेचैन कर देता है। एक हूक-सी कलेजेमें उठती है। लगता है, पकड़ते-पकड़ते कोई चीज़ हाथसे निकल गई।

ज़रा-ज़रा-सी बात! उस दिन उलझ रहा था—'मुझे बाल ले दो।' रो-रोकर रह गया और सलमा नहीं ले दी बाल। सारा बाज़ार घुमा, बेवकूफ़ बना लौटा लाये। घर तक पूछता आया, 'कब तक मँगा दोगी?' कह दिया, अगले महीने ले देंगे और अगला महीना कहाँ आया; खिलाड़ी पहले ही चल दिया!

राजेनका दुःख मामूली नहीं है। उसका बच्चा ज़रा-ज़रा-सी चीज़को तरस गया...और ज़िन्दगीमें ही नहीं, वह बिचारा तो कफ़न भी नहीं पा सका।

किसी त्योहारकी छुट्टी थी। ऑफ़िस बन्द थे। न परमिट मिली, न कफ़न। यह अशोक इस तंगीमें यों "क़ज़ा ले चली चले"......सा बीत गया! औरोंके बच्चे खाते थे, पहनते थे, वह देख-देखकर रह जाता था! अपना बचपन याद आता था। यह बदक़िस्मत अशोक तंगी और तेज़ीमें

ही चल दिया। और इसका चला जाना यों ज़िन्दगी वीरान कर जायगा यह तो उस वक्त समझ ही नहीं पड़ा था।

एक गज़भर सफ़ेद पापलीनमें—जो उसीके कमीज़के लिए पड़ी थी—उसे लपेटकर लोग जब चल दिये तो लगा कि दिलमें दरार पड़ती चली गई।

मौतकी जुदाई तो रातके सन्नाटेमें, कमरेकी नहूसतमें, समझ पड़ी। हिप्नोटाइज़-सा राजेन पीछे-पीछे चला गया...और उसे जब बच्चेको झुलाकर फेंक देनेको कहा गया तो वह रो पड़ा। नहीं फेंक सका। किसी और ने फेंक दिया। मुर्दा! जो अपना नहीं, उसका क्या मोह?...

सलमा! आज तीन दिन बीत गये। ज़िन्दगीकी घड़ी चार बजकर दस मिनटपर रुक गई। फिर तो आगे-पीछे सब शून्य है। दिमाग़में सोचने की क्रिया जारी थी वह खतम हो गई। कुन्दे-सी पड़ी थी। अब लिखने बैठ गई। क्या करूँ, कुछ अक़ल काम नहीं करती।

राजेन दूसरे दिन ही चुपकेसे कहीं चल दिया। दो दिन-रात पागल-सी ढूँढ़ा की, पर वह न जाने कहाँ है। कब लौटकर आई नहीं मालूम। होश आनेपर अपनेको घरपर पाया।

यादगारोंकी क़ब्र! यह मकान मेरा दम घोंट रहा है। अकेली हूँ—बिल्कुल अकेली। दुनियामें अपना कोई नहीं। ज़िन्दगीकी गाड़ी मंज़िलके उस सुनसान मोड़पर आकर बिगड़ गई जहाँ वीरानगी और खाकके सिवा कुछ नज़र नहीं आता। अब बाक़ी राह पूरी भी नहीं होगी। सफ़र पूरा करनेको दम कहाँ पाऊँगी सलमा! वह खंडहर हूँ जो भाँय-भाँय कर रहा है। बसनेवाले चल दिये। ढह जाना बाक़ी है।

जो कभी नहीं सोचा आज उसके बिना कोई चारा नहीं। खुदकुशीको इतना बुरा क्यों बताते हैं? जब रौनक न हो, चहल-पहल न हो, तो सुन-सान ठूँठ चाहे खड़ा रहे, चाहे गिर जाय। दुनियामें जब कोई इस्तेमाल

न हो, तो कोई क्यों जिये ? ज़िन्दगी चट्टान-सी बोझिल। यह लाश लादे फिरनेकी हिम्मत चुक गई है। बेसुरा राग ज़िन्दगी भर अलापनेसे अच्छा है, वह लय खतम कर दिया जाय...ज़िन्दादिली ही ज़िन्दगी है, वरना दुनिया बेरौनक़ बनानेका हमें क्या हक़ है ?

मैं खुदकुशी कर ही लूँगी। यह चमन बेवक्त उजड़ गया। अब और कोई हसरत बाक़ी नहीं, और कौन-सी तमन्ना घर आई ? अपनेको मिटाकर भी घिसटनेके सिवा क्या मिला ? मैं राजेनसे भी बदक़िस्मत हूँ—जब तक मैं और अशोक उसके आश्रित थे। राजेन यों चल देगा इसका मुझे गुमान भी न था।

सलमा ! राजेन अशोकको जलराशिके हवाले कर लौटा तो यहीं आकर चुप पड़ गया। अशोककी बीमारी, उसकी मौत और बेकारीकी तबाहीमें तीन दिनसे उसे खाने तकका खयाल न था। रात हो आई थी। सरसे पाँव तक पसीनेसे भीगा ज़मीनपर यहीं पड़ा था। दोनों हाथोंपर सिर टिकाये ऊपरको ताकता रहा। उसकी वह वहशियाना सूरत। मेरी हिम्मत नहीं पड़ रही थी। पास जाकर पूछा "क्या सोच रहे हो राजेन ?" "सोचनेको बाक़ी क्या है ?" उसका जवाब था। मैंने सोचा, उसे खयाल बदलना चाहिए, वरना राजेन-सा कमज़ोर दिल यह सदमा बरदाश्त नहीं कर सकेगा।

धीरे-धीरे उसके सिरपर हाथ फेरा तो वह एकदम उठकर बैठ गया। बैठा रहा। फिर यकायक बोला, "प्रीति ! अशोकके बग़ैर मैं ज़िन्दा नहीं रह सकता। ज़िन्दगी भकेलनेमें अशोकका बड़ा हाथ था। यह अशोक मुझे ज़िन्दा रखे था...अब...अब क्या करूँगा ?" बेबसीकी कसक आँखों-में उमड़ आई। मैं समझाने लायक़ भी न थी। एक बेहूदा-सी बात मैंने कही, "राजेन, तुम खुदको सँभालो। बच्चा तो बड़ी बात नहीं।"

मैं आपेमें नहीं थी सलमा। चाहती थी, राजेन फूट पड़े। वरना यह आग धधक-धधककर उसे स्वाहा कर देगी। और वह पागल हो रहा था। मुझे इसका पता न था। एक ही धुन थी उसे—"मुझे बच्चा चाहिए।"

राजेनके लिए मुझे इनकार नहीं हो सकता था सलमा! मैं आपेमें नहीं थी। दिमाग़में लकवा लग चुका था। मतलब समझनेकी ताब शायद हम दोनोंमें नहीं थी।

उसका पसीनेसे भीगा बदबू मारता जिस्म जब नज़दीक आया, मुझे अपने इस नारी-शरीरपर एक भारी छी-छी अंतरमें जान पड़ी। अशोककी लाशपर मानव-निर्माण!...मैं छिटककर दूर जा पड़ी। और उसका तो दिमाग़ खराब हो चुका था। मैं पड़ी-पड़ी सिसकती रही। एक बेहोशी, थकान। कब सो गई, नहीं मालूम। यकायक राजेनकी चीखसे नींद उचट गई। वह भागता दरवाज़े तक चला गया। मैं बैठीकी बैठी रही। वह लौटकर चौखट पकड़कर खड़ा हो रहा। फिर आकर क़रीब बैठ गया। मुझसे बोला, "अशोक था। मैं दरवाज़े तक गया। वह न जाने किधर चला गया।"

परिस्थितिकी भयङ्करता बिजली-सी दिमाग़में कौंध गई। यह राजेन पागल हो गया था! और सलमा, ज़िन्दगीका सारा दुःख, अभाव, तकलीफ़ें भयानक रूपसे आँखोंके आगे फिर गईं। मुझे रोना आया। जीवन भर कभी इतना रोना नहीं आया। और अब तो सारी ज़िन्दगी ही चुक गई।

राजेनकी चेतना लौट पड़ी। बोला, "प्रीति मेरा दिमाग़ खराब हो गया। तुमसे अभी बच्चा माँग रहा था। पर मुझे हक़ क्या है? मैंने अपना बच्चा मार डाला! खाना, कपड़ा, दवा, मैं तो कफ़न भी न दे सका!"—गला भर आया। एक गहरी साँस लेकर बोला, "मैं नालायक़ हूँ प्रीति। इस कमज़ोरीपर मुझे घर बसा तुम लोगोंको घसीटनेका क्या

अधिकार था, और उसको..." उफ़ सलमा, मेरा कलेजा मुँहको आ रहा था। मेरी पीठपर हाथ रखकर बोला, "प्रीति, तुम्हें क्या दे सका? अब तो यह अशोक मुझे खतम कर गया। मेरा दुनियासे रिश्ता टूट गया। उस असहाय बच्चेको कुछ न दे सका। तुम तो समझदार हो, तुम मुझे माफ़ कर देना। कुछ दे न सका, पर वह लाचारी थी।"

बात खतम हो गई। रोई भी, जितना रोया जा सका। अब तो आँसू भी चुक गये। बाक़ी है एक जलन। चुपकेसे वह कब कहीं निकल गया, नहीं मालूम। और अब मेरे पास इस जिस्मके सिवा कुछ नहीं है।

पेटमें एक दाना नहीं, पास एक कौड़ी नहीं। भाग्य मानती नहीं हूँ। फिर भी वह जो इस हरे-भरे घरको उजाड़कर बरबादीकी खाक उड़ा गया उसके प्रति एक प्रतिहिंसा है। मेरा पति, मेरा लड़का, इस तंगी और कंगालीके शिकार हुए; यह घर खंडहर हो गया। एक मेरा नहीं, लाखों घर यों ही तबाह हो रहे हैं। अशोक जब बीमार था, राजेन इंजेक्शनके लिए सारे दिन दौड़ता फिरा, लेकिन नहीं पा सका। चोर-बाज़ारकी क़ीमत हम अदा नहीं कर सके। हमने हाथ-पैर भी जोड़े। वह दूकानदार, हमारा ही पड़ोसी, एक खासा मशहूर लीडर है। पूरा केमिकल वर्क्स चलता है उसका। और उसका दिल नहीं पिघला। सौदा सौदा ही था। हमारा बच्चा तड़पता रहा। बग़लके घरमें ढेरों दवा पड़ी रही। राजेनका खून खौल रहा था। दूसरा कोई वक़्त होता तो वह हाथ चला बैठता। पर रह गया; और अब न जाने कहाँ है सलमा? क्या लिखूँ, सब तो लिखा जा चुका। ज़िन्दगीका ड्रामा खतम हो गया। तड़प-तड़पकर मुझे मरना बाक़ी है। हम मर जाँय तो सलमा, हम ग़रीबोंको याद कर लिया करना। मेरी यादको तुम बची रहोगी, मुझे यक़ीन है। लीडरों तक मुफ़लिसी और मौत नहीं पहुँचती!

मेरा आख़िरी प्यार सलमा—आख़िरी ही है। मेरा पार्ट बुरा या भला अदा हो गया। कोई हसरत, कोई तमन्ना बाक़ी नहीं है। राजेन कहीं भी हो, मुझे यक़ीन है उसके पहले मैं ही चल दूँगी इस दुनियासे।

—प्रीति

सलमा!

अभी-अभी लहू-लुहान राजेनको लोग पकड़ लाये हैं। उस दवा-फ़रोशसे वह फौजदारी कर बैठा। बच्चेकी मौतके उस गुनहगारको राजेन माफ़ नहीं कर सका। बस...

मेरा दिमाग़...मेरा दिमाग़ घूम रहा है...हाथ जवाब दे रहे हैं...मैं...मैं...मेरे...

राधाकृष्ण प्रसाद

आरा (बिहार) में जन्मे राधाकृष्ण प्रसादकी प्रारम्भिक शिक्षा बंगलामें हुई। पटना विश्वविद्यालयसे एम. ए. कर आपने 'बालक' पत्रका सम्पादन किया और तदनन्तर बिहार सरकारके प्रचार विभागसे सम्बद्ध हो गये। सम्प्रति आकाशवाणीके इन्दौर केन्द्रमें ड्रामा-प्रोड्यूसर हैं। पर्यटन और पठन-पाठनकी ओर विशेष रुचि रखते हैं।

वातावरणका सजीव चित्रण, सरल किंतु प्रभावपूर्ण अचूक व्यंग्य, और कहानी कहनेकी सीधी-सहज आडम्बरहीन शैली राधाकृष्ण प्रसादकी कहानी-कलाकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। आपकी छोटी संक्षिप्त और मार्मिक कहानियोंको पढ़ मन एक गहरी उदासीसे भर उठता है और मनका सोया दर्द जैसे जाग उठता है। अनेक कहानियोंका विभिन्न भारतीय भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है।

सात कहानी-संग्रह ('देवता', 'विभेद', 'अन्तरकी बात', 'खरा और खोटा', 'कटे पंख', 'समानान्तर रेखायें' और 'केश-बहारका एजेण्ट'), तीन उपन्यास ('आदि और अन्त', 'टूटती कड़ियाँ' और 'हे मेरे देश') और लगभग बीस बालोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। चीनी उपन्यास ('रिक्शावाला') का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

• फुलवरिया

—राधाकृष्ण प्रसाद

उदास, मटमैला वातावरण वहाँ निरन्तर छाया रहता है। गाँवपर मानो मनहूसियत बरसती है। कच्ची पगडंडियाँ हैं। गर्मीमें धूल उड़ती है। बरसातमें कीचड़की बाढ़ आ जाती है। यदि आप किसी कारणवश उस गाँवमें पहुँचें तो वहाँकी स्तब्धता आपके हृदयको थका देगी। बाँसके लम्बे और घने वृक्ष आपका स्वागत करेंगे और एक रहस्य भरी मर्मर आवाज़ आपके प्राणोंको आतंकित कर देगी!

गाँवके चारों ओर गढ़हे हैं और बरसातका पानी उनमें जमकर सड़ जाता है। उस सड़े हुए, दुर्गन्धयुक्त जलपर अनेक रोगोंके कीटाणु पलते हैं और ये कीटाणु रङ्ग-बिरङ्गके हैं।

यहाँके निवासियोंको देखिए। मलेरियासे पीड़ित इनकी पीली आँखोंमें जीवनके प्रति एक उपेक्षाका भाव मिलेगा। एक ऐसी थकान इनके चेहरे पर है जिसे देखकर मनमें सिहरन हो उठती है।

ऐसे गाँवमें आकर शहरका कैसा भी आदमी उदास हो सकता है। फिर निरंजनने तो कभी देहात देखा ही नहीं। जन्मसे ही केवल शहर देखता आया। बाप किसी ऑफ़िसमें किरानी थे। मरे तो सचमुच निरञ्जन को भी मार गये।

लड़कपनसे ही वह उड़नछू प्रकृतिका आदमी रहा है। तीन बार मैट्रिकमें फ़ेल हुआ। बीज-गणितके बीज पहिचाननेकी अपेक्षा फुटबॉलकी बारीकियोंसे वह अधिक परिचित रहा। फलतः परीक्षा नामक चीज़से उसकी जन्म-जात शत्रुता रही।

बूढ़े अनुभवी बापने अपनी ज़िन्दगीमें बहुत कोशिशें कीं ताकि लड़का वंशको न डुबो दे। निरञ्जनके और दो भाई थे जो उससे समझदार थे और जिन्होंने मैट्रिक रूपी वैतरणी पारकर वंशकी किरानी-परम्पराको सजीव रखा था। एक निरञ्जन ही ऐसा हतभागा निकला जो किरानी होनेका सौभाग्य न प्राप्त कर सका! कायस्थ-परिवारके अकिञ्चन, मैट्रिक फ़ेल लड़केको कौन ऐसा उदार श्वसुर मिलता जो अपनी लड़लीको सौंप धन्य मानता? अतः निरञ्जनके हाथ पीले नहीं हो सके और इसी शोकमें उसकी बूढ़ी माँ मर गई। पिता भी थोड़ा आगा-पीछा सोचकर मर गये।

बड़े भाईके आसरे निरञ्जन आखिर कबतक रह सकता था? बड़ी भौजाईका चेचकसे भरा गोरा मुँह निरञ्जनको देखकर बैलून हो जाता था और समय-असमय, परोक्ष-अपरोक्षमें जो बातें वे कहती थीं उनमें श्लेष और वक्रोक्तिकी मात्रा बहुत अधिक रहती थी।

हार मानकर निरञ्जनने होमियोपैथी पढ़नी शुरू की। किरानी न हुआ—न सही, होमियोपैथ डॉक्टर तो हो सकता है! और कुछ ही दिनोंमें लम्बी-चौड़ी एक डिग्री भी उनसे खरीद ली। अब वह डॉक्टर निरञ्जन था और हमेशा दवा और रोगियोंकी बातें सोचता था।

पर डॉक्टर हो जानेसे ही क्या होता? उसके लम्बे-चौड़े साइन-बोर्ड और उधार माँगी हुई कुर्सियाँ किसी मरीज़को आकर्षित करनेमें असमर्थ साबित हुईं। जब दो-तीन महीनेका दूकान (या डिस्पेंसरी?) भाड़ा भी घरसे देनेकी नौबत आई तो भाई-साहबका धैर्य छूट गया। बोले—"साइन-बोर्डको किसी बढ़ईके हाथ बेच दो निरञ्जन, और दवा सब अपने लिए रख छोड़ो। और कुछ नहीं कर सकते तो कमसे कम इतनी मेहरबानी करो कि चुपचाप जैसे थे, वैसे पड़े रहो। तुम जानते हो कि कुल मिलाकर मुझे ७६॥) महीना मिलता है। तुम्हीं ये रुपये लेकर बजट बनाओ। नन्हेंकी स्कूल-फ़ीस दो महीनेसे बाक़ी है और नन्हेंकी माँकी साड़ी......"

निरञ्जन सिर झुकाकर वापस लौट आया। ग्लानि और चिन्तासे उसका मन जर्जर था। चौबीस वर्षका जवान होकर भी वह कितना पंगु है... कितना अपदार्थ !....

× × ×

गाँवका नाम है फुलबरिया। यह नाम कैसे पड़ा; यह अनुसन्धानका एक विषय है। पर इतना सत्य है कि फूलोंकी कोई पृष्ठभूमि इस गाँवके इतिहासमें नहीं।

निरञ्जन कैसे इस गाँवमें आया, यह भी एक नाटकीय घटना है। अपने ही पेशेके एक प्रौढ़ सज्जनने उसे सलाह दी, "भले आदमी, शहरमें कहीं होमियोपैथी चलती है ? भागो यहाँसे, नहीं तो तुम्हारी दवाओंमें जंग लग जायगी ! जानते हो, एक दिन मैं भी तुम्हारी ही तरह नादान था। तुम तो शायद मैट्रिक तक पढ़े हुए हो। मैं अपर फ़ेल हूँ। धर्मपत्नीके गहने गिरवी रखकर मैंने भी शहरमें प्रैक्टिस शुरू की थी। पर सालभर तक जब धेलेकी आमद नहीं हुई तो मेरी नींद टूटी और गाँव भाग गया। आज जानते हो, भगवान्‌की दयासे मेरी क्या औक़ात है ? तुम्हारी ही उम्रका मेरा एक बेटा एम. बी. बी. एस. में पढ़ रहा है। शहरमें एक दुमंज़िला मकान मैंने ख़रीदा है......"

इसी प्रौढ़ सज्जनने उसकी मदद की। दूकानका भाड़ा चुकता किया गया और उनकी ही सलाहसे वह घरसे तीन सौ मील दूर एक अनजान देहातमें आ धमका।

प्रारम्भके दिन तो बहुत ही दुःखदायी रहे। निपट गँवारकी ज़िन्दगी ! निरञ्जन सचमुच रुँआसा हो गया। अपने भाग्यपर उसे झुँझलाहट आई। यदि वह भी मैट्रिक पास कर पाता !...फिर ये दिन उसे क्यों देखनेको मिलते ?

पर धीरे-धीरे निरञ्जन अभ्यस्त हो चला। फुलबरिया गाँवका उदास, धूमिल वातावरण जैसे उसका चिर परिचित हो! उस गाँवके जीवनकी शून्यतासे जैसे उसका आश्चर्यजनक मेल हो!

उसकी प्रैक्टिस जमने लगी। गलेमें चमड़ेका स्टेथस्कोप लगाकर गम्भीर मुद्रामें जब वह भयभीत और आतंकित चेहरेवाले मूढ़ ग्रामीणोंकी ओर देखता, तो उसके ओठोंपर एक अजीब तरहकी मुसकान दौड़ जाती।

पता नहीं, यह उसकी दवाका परिणाम था या मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाका, जिसके फलस्वरूप उसके रोगी शीघ्र ही अच्छे हो जाते। निरञ्जनका नाम आस-पासके गाँवोंमें भी फैलने लगा। एक-डेढ़ महीनेकी प्रैक्टिसमें ही उसके पास इतने पैसे हो गये कि उस प्रौढ़ अथच दयालु सज्जनका कर्ज़ उसने चुकता किया और पचीस रुपयेका मनीऑर्डर भाई साहबके नाम भेजा। लौटती डाकसे बेलूनकी तरह समय-असमय फूल उठनेवाली नन्हें की माँने आशीर्वादोंकी झड़ी लगाते हुए पोस्टकार्डमें लिखा था कि निरञ्जन जैसे लायक़ लड़केसे यही उम्मीद थी।

× × ×

दूसरा महायुद्ध समाप्त हो गया था। भारत आज़ाद हो चुका था पर उसके दुर्गुण जैसे दुगुने हो गये थे।

निरञ्जनने देखा—सारा फुलबरिया जैसे और भी धूमिल होता जा रहा है। खेतोंका अनाज पता नहीं कहाँ चला जाता था! पीले, दुर्बल और अज्ञानमें डूबे इन हताश ग्रामीणोंको देखकर निरञ्जनका मन जैसे बर्फ़ हो जाता।

यहाँ रास-रंगकी किसे फ़ुरसत थी? सन्ध्या होनेके साथ ही मिट्टी-तेलके अभावमें सारा फुलबरिया जैसे एक शवका रूप ले लेता। यदा-कदा रग्घू साऊ या ऐसे ही दो-चार महाजन या ज़मींदारके कारिन्देके घरसे धुँआती लालटेनोंका मटमैला प्रकाश चमक जाता।

घर-घरमें रोगी । सन्ध्या होते ही सियारोंका कोरस-गीत शुरू हो जाता और निरञ्जन अपनी छोटी-सी लैम्पके सहारे दवाओंका सूचीपत्र अन्यमनस्क होकर पढ़ा करता । कभी-कभी झुँझलाकर सोचता—यह भी कोई ज़िन्दगी है ?...शहरमें और न सही कम-से-कम सिनेमा-हाउसके पास खड़े होकर शामके समय घण्टे-दो-घण्टे लता और सुरैय्याके रेकार्ड तो सुने जा सकते हैं !...कहाँ लताकी मीठी आवाज़ और कहाँ सियारोंका कोरस ?......

× × ×

ऐसी ही एक रातकी घटना है ।

उस रात उसे नींद नहीं आ रही थी । अपने भाग्यकी विडम्बनापर वह उधेड़-बुन कर रहा था । यह बात ठीक है कि उसके पास कुछ पैसे आ रहे हैं, और शहरका आवारा, अपदार्थ निरञ्जन आज डॉ० निरञ्जन है । पर उसके मनको शान्ति कहाँ है ? एक देहाती नौकर उसने सस्तेमें रख लिया है । कच्चा-पक्का बनाकर वह चला जाता है । पर क्या उसके दिन ऐसे ही बीतते जाँयगे ? नीरस, एकरस, शुष्क ? बंजर ज़मीनकी तरह क्या उसकी ज़िन्दगीमें हरियाली नहीं आयगी ?...और तब थोड़ी सेक्सकी अनुभूति उसे बेचैन कर जाती है और वह बिछावनपर करवटें बदलता है...

"डागटर बाबू !" अँधेरी रातको छेदती हुई एक भर्राती, बूढ़ी आवाज़ थर्राकर निरञ्जनके कानोंसे टकरा गई । कुछ देर तक निरञ्जन सहमा रहा । फिर दरवाज़ा खोल दिया । अपने टार्चके प्रकाशमें देखा—एक पचास-साठ सालकी बुढ़िया आँसू बहाती हुई ठंडमें काँप रही थी ।

रोती और काँपती बुढ़ियाने जो बातें रुक-रुककर बतलाईं उनका आशय यह था कि उसके जवान, इकलौते बेटेको आज कई रोजसे बुखार आ रहा है । इस समय उसकी हालत बहुत खराब है और बुखारमें वह मूर्च्छित पड़ा हुआ है । वह जातिकी दुसाधिन है और खेतोंमें मेहनत मजूरी करके जीती है । घरमें ऐसी कोई मूल्यवान चीज़ नहीं थी जिसे बेच

कर वह डॉक्टर बाबूकी फ़ीस जुटा सकती थी। घरमें एक पीतलकी थाली थी जिसे वह रग्घू सावके यहाँ बन्धक रखकर कुछ पैसे लाई थी। वे पैसे भी पथ्य इत्यादिमें खर्च हो गये। इस समय उसका बेटा बिना दवाके मरने को है।

बुढ़िया निरञ्जनके पैर पकड़कर काँप रही थी। उसके शरीरकी मैली और जर्जर साड़ीके छिद्र उसकी दशाके परिचायक थे।

निरञ्जन अन्तमें लाचार होकर और कुछ झुँफलाकर दुसाध-पाड़ाकी ओर चला। एक हाथमें दवाका बक्स था, और दूसरे हाथमें टार्च। सारे गाँवपर अलकतरे-सी काली और गाढ़ी अँधियाली छाई थी। निरञ्जनका मन उस अन्धकारमें और भी खीज उठा। बिना कुछ प्राप्तिकी आशामें, ऐसी अँधेरी रातको घरसे बाहर निकलना एक भावुकताकी ही तो बात थी! डॉक्टर यदि भावुक हुआ तो उसका काम चला! भावुक तो कवि होते हैं। पता नहीं, निरञ्जनके अज्ञात मनमें यह कौन-सा कवि बैठा था जिसने उसको चलनेपर बाध्य किया।

छोटी-सी फूसकी झोपड़ी। बुढ़ियाकी झोपड़ीके आँगनमें पहुँचकर उसने टार्चका प्रकाश घुमाया......बिजलीकी गतिकी तरह एक नग्न, साँवली युवती उठ खड़ी हुई और फटी टाटसे अपनी लाज छिपाती हुई बीमार रोगीके पाससे हट गई!

निरञ्जनका सिर जैसे घूम गया। रोंगटे खड़े हो गये और हाथ काँपने लगा।

बुढ़ियाने दबी आवाज़में कहा, "यह हमारी पतोहू है बाबू!"

रोगीके पास वह पहुँचा। ज़मीनपर एक फटा-पुराना कंथा बिछा था और उसपर कंकालके समान एक दम तोड़ता हुआ युवक पड़ा था। उसकी आँखें भयानक रूपसे धुँधली थीं और वे क्रमशः पथराती जा रही

थीं ! प्रकाश देखकर रोगीके ओंठ फड़फड़ाये—जैसे वह कुछ कहना चाहता हो !

बुढ़िया निरञ्जनके पैर पकड़कर चीख रही थी, "डागटर बाबू, मेरा बेटा !..."

निरञ्जन जैसे किसी भाव-समुद्रमें डूबा था। जल्दी-जल्दी एक दवा निकालकर बोला, "इसे खिला दो। फिर सुबह मेरे पास आना।" और इसके बाद वह तेज़ीसे निकल आया।

× × ×

उस रात फिर निरञ्जनको नींद नहीं आई। यह उसके जीवनकी कैसी अनुभूति थी ! वह उस रोगीको देखते ही समझ गया था कि यह कुछ मिनटोंका मेहमान है। फिर व्यर्थ ठहरकर क्यों अपना समय नष्ट करता ?...

सुबह बुढ़ियाके बेटेकी मौतकी ख़बर मिली। जैसे इस ख़बरकी वह प्रतीक्षा कर रहा था। इस ख़बरने उसको उतना विचलित नहीं किया।

पर बिजलीकी गतिके समान भागती हुई वह नग्न युवती, और प्रकाशको पाकर एक मरते हुए कंकालके ओठोंकी फड़फड़ाहट ?...

कपड़ेके अभावमें लज्जाका इतना वीभत्स रूप उसने कब देखा था ?... और मिट्टी-तेलके अभावमें मरते हुए व्यक्तिके ओठोंकी फड़फड़ाहट ?... मरते हुए बेटेका मुँह अँधेरेमें, तेलके अभावमें माँ नहीं देख सकी होगी और अपने सुहागको लुटते हुए देखकर उस अन्धकारमें निराभरणा पत्नीने क्या सोचा होगा ?...

× × ×

यह फुलवरिया ग्राम !

निरञ्जनको महात्मा गाँधीकी वह उक्ति याद आ गई जिसे अपने कभीके किसी पाठ्य-ग्रन्थमें उसने पढ़ा था—'भारतकी आत्मा गाँवोंमें बसती है !'

"तो क्या भारतकी आत्मा यही फुलबरिया जैसा ग्राम है ?"—निरञ्जनने माथेपर बल डालते हुए सोचा ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

उनतीस वर्षीय सर्वेश्वरदयाल सक्सेना कवि रूपमें इतने विख्यात हो चुके हैं कि अब अनेक पाठकोंको यह जानकर कदाचित् आश्चर्य हो कि वह प्रतिभाशाली कहानी-लेखक भी हैं। आपने बस्तीमें जन्म लिया। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा भी वहीं हुई। अनन्तर अध्ययनार्थ वाया बनारस, प्रयाग पहुँचे। एम० ए० करनेके बाद पाँच वर्ष तक स्थानिक ए० जी० कार्यालयमें क्लर्की की, फिर ऑल इंडिया रेडियोके समाचार-विभागमें नियुक्त होकर दिल्ली पहुँचे। तबसे स्थूल रूपेण वहीं हैं—मन तो त्रिवेणी-तीर ही छोड़ आये हैं।

प्रारम्भमें कविताएँ लिखीं, फिर कहानियाँ, अनन्तर फिर कविताओंका दौर शुरू हुआ। अब लघु-उपन्यासोंकी ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। 'निकष–१' में प्रकाशित उपन्यासिका 'सोया हुआ जल' की बहुत चर्चा रही। अंग्रेज़ीमें भी अनुवाद हुआ। क्या कविता, क्या कहानी—हरेकमें विद्रोह-सूचक विषय-वस्तुके दर्शन होते हैं।

• कमला मर गई

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

"सुना है कमला मर गई।" माँने अपने उस लम्बे-चौड़े खतमें, जिसमें उसने तमाम इधर-उधरकी बातें लिखी हैं, एक कोनेमें यह भी लिख दिया है। जैसे इसके लिखनेकी उसने कोई ज़रूरत न समझी हो, और पता नहीं कैसे यह लाइन उसकी क़लमसे निकल पड़ी हो। आकाशके अनन्त नक्षत्रोंके बीच जैसे किसी तारेके टूटनेपर कोई कह पड़े "देखा नहीं तुमने, अभी एक तारा टूटा था" और फिर अपने काममें लग जाय। एक बात थी जो सूचनाके रूपमें निकल पड़ी। उसके पीछे कोई विचार, कोई गहरी अनुभूति नहीं, केवल एक सूचना—सूचनामात्र!

मैंने यह पंक्ति पढ़ी। कई बार पढ़ी। कई ढंगसे पढ़ी, विभिन्न स्वराघात दे देकर पढ़ी। संभव है कोई दर्द, कोई हल्की सहानुभूति इसके पीछे मिल ही जाय, पर लगता है सब निरर्थक है। इस पंक्तिके पड़े रहनेमें या निकाल देनेमें खतका कहीं कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वह अपनेमें पूर्ण है। और मेरी ज़िन्दगी भी है, ठीक इस पत्रकी तरह। कमलाका नाम कहाँ किस कोनेमें था बहुत आँखें गड़ाकर देखनेपर, मस्तिष्कपर ज़ोर डालनेपर ही पता लगता है, उसके 'रहने' ने इस लम्बे चौड़े जीवनपर कहीं कोई प्रभाव नहीं डाला और आज उसके 'न रहने' ने कहीं कुछ ऐसा नहीं किया कि उसकी कुछ कमी खटके। लेकिन कमला 'मर गई'। यद्यपि यह 'मर जाना' शब्द मैं दिन भरमें सैकड़ों बार सुनता हूँ पर कमलाके साथ इस 'मर जाने' का सम्बन्ध कुछ अजीब लगता है। लगता है मर गई तो कोई बात नहीं, लेकिन अगर न मरती तो अच्छा था। यही औरोंमें और कमलामें मेरे लिए

भेद है। वह ज़िन्दा थी, इस दुनियामें रहकर भी वह मेरे लिए नहीं थी, लेकिन आज मर जानेपर जैसे वह मेरे लिए कुछ हो गई हो। जबतक वह ज़िन्दा थी मैंने कभी उसके लिए कुछ नहीं सोचा, लेकिन आज जब वह मर गई है, मैं उसके लिए कुछ सोच रहा हूँ। उसकी ज़िन्दगीने तो नहीं, लगता है उसकी मौतने कहीं थोड़ा बहुत उसको मुझसे बाँध दिया हो।

एक घना कोहरा है मेरी आँखोंके आगे, जिसमें मैं उससे सम्बंधित स्मृतियाँ टटोल रहा हूँ। एक घटना पकड़में आ रही है। मुझे आश्चर्य है कि यह घटना आजतक मुझे याद क्यों है? आजसे लगभग बारह वर्ष पूर्वकी बात है जब मैं नौ या दस वर्षका रहा हूँगा, कमलाका परिवार मेरा पड़ोसी था। मेरे घरसे लगभग दो फ़र्लाङ्गपर उसका घर था। उसकी माँ और मेरी माँमें बहुत पटती थी और अक्सर वे लोग एक-दूसरेके यहाँ आया-जाया करती थीं। यही कारण हमारे-उसके सम्पर्कमें आनेका था। यूँ बच्चोंका सम्पर्क परिवारकी अपेक्षा अधिक शीघ्र और गहरा हो जाता है, फिर वह तो मेरी समवयवस्का भी थी। खेल-कूदमें हम लोगोंको बहुधा एक-दूसरेकी ज़रूरत पड़ती थी। मैं स्वभावसे ही गम्भीर था और जितना ही मैं गम्भीर था उतनी ही वह चंचल थी। शामका समय था। मेरा मकान बहुत छोटा, खपरैलका था और वह भी एक गलीमें। इसीलिए प्रकाश जल्दी विदा ले लेता था। मैं बैठा पढ़ रहा था। मेरा शिक्षक कोयलेसे भी अधिक काला था अतः अँधेरा छाते ही मैं लालटेनकी प्रतीक्षा करने लगता था क्योंकि मुझे उसे देखकर डर लगने लगता था। उस अँधेरेमें उसके काले-काले चेहरेमें उसके सफ़ेद दाँत-रहरहकर चमक उठते थे, जब वह मुझे हिसाब लगाते समय कहीं गुणा-भागमें ग़लती करनेपर डाँटता था। उस समय मुझसे ज़रूर ग़लती होती थी। और साधारण ग़लतियोंपर जब वह मेरे कान पकड़कर चिल्लाता था तब मैं आँखें बन्दकर चीख उठता था, दर्दसे कम लेकिन माँ द्वारा सुनाई हुई राक्षसोंकी कहानी याद करके अधिक।

ऐसे अवसरोंपर मैं हिसाब भूलकर भगवान्‌की याद करने लगता था। उस-दिन ऐसा ही अवसर था जब मैं भगवान्‌को याद कर रहा था। वह मेरे कान एँठ रहा था और कमरेमें अँधेरा छा गया था। तभी कमलाके पिता आये थे। उन्होंने कहा, "मास्टर साहब, ज़रा इसे दो मिनटकी छुट्टी तो दे दीजिए।" मैं प्रसन्न हो उठा, यह सोचकर कि भगवान्‌ने मेरी पुकार सुन ली। लेकिन मैं ज्यों ही कमरेके बाहर प्रकाशमें आया, उनका चेहरा देखकर काँप उठा क्योंकि वह क्रोधसे तमतमा रहा था। मैं बहुत डर गया और खड़ा होकर शायद सज़ाकी प्रतीक्षामें अपराधी-सा उनकी ओर देखने लगा, मुझे रुकते देखकर वे बड़े कड़े स्वरमें बोले—"आइये आइये, रुक क्यों गये?" और तेजीसे चल पड़े एक ओर गलीमें, जिसमें उनका घर था। कुछ तो डरसे और कुछ छोटा होनेके कारण मैं पिछड़ जाता था। लेकिन उनकी निगाह घूमते ही मैं दौड़कर उनका साथ पकड़ लेता था। रास्ते भर वे मुझसे कुछ नहीं बोले, लेकिन वह दो फर्लाङ्गका रास्ता मेरे लिए कितना कष्टदायी रहा होगा, इसका अनुभव इसीसे किया जा सकता है कि वह आज तक मुझे याद है। उस गलीमें जिसमें अँधेरा उमड़ रहा था और मच्छर सूँ-सूँ कर रहे थे। मैं कितनी बेचैनी लिये भाग रहा था, यह मैं आज भी नहीं भूलता। सोचता था, कहीं कमलाने शिकायत तो नहीं कर दी है। कैसी शिकायत करेगी वह? मैंने उसे मारा तो है नहीं। फिर इधर मुझसे उससे झगड़ा भी तो नहीं हुआ। कभी सोचता था, शायद उसे कहीं चोट लग गई हो और उसने खुद बचनेके लिए मेरा नाम लगा दिया हो। कभी सोचता, हो सकता है उससे कुछ नुकसान हो गया हो, कोई चीज़ टूट गई हो, कोई चीज़ खो गई हो या कोई चीज़ चुराकर खा ली हो और खुद सज़ासे बचनेके लिए उसने मेरा नाम लगा दिया हो। बस इतनी ही मेरी उस समयकी मानसिक परिधि थी। इसके आगे मैं नहीं सोच सकता था। परेशान और डरा हुआ, जब मैं मकानमें पहुँचा तो मैंने देखा, मकानके बड़े आँगनमें

चारपाईपर उसकी माँ बैठी पानदान बन्द कर रही हैं। एक पतली छड़ी पासमें रक्खी है। उसके हाथ बँधे हैं और वह ज़ोर-ज़ोरसे सिसकियाँ भर रही है जैसे उसने बहुत मार खाई हो। उस समय उसे देखकर मुझे तरस नहीं आया, बल्कि मैं और डर गया। उसके पिताने कहा—"लो, इससे पूछ लो।"

माँने बड़े इतमीनानसे कहा, "तुम्हीं न पूछ लो।"

"मैं क्यों पूछूँ? तुम्हीं अपनी बिटियाकी बहुत तरफ़दारी लेती हो। तुम्हीं पूछो न!" इतना कहकर वे तेज़ीसे घूमने लगे। थोड़ी देरके लिए सन्नाटा छा गया। सब चुप थे। केवल कमला सिसकियाँ भर रही थी। कोनेका अमरूदका पेड़, आँगनकी नीची-नीची दीवारें, अँधेरेसे भरा हुआ बरामदा, पिंजड़ेमें टँगा हुआ तोता सब मेरी तरह सहमे-सहमे नज़र आ रहे थे। मैंने कई बार उसकी ओर आँख उठाई लेकिन वह आँखें नीची किये रोती ही जा रही थी। उस खामोशीसे मेरा डर बढ़ता जा रहा था। मेरी टाँगें काँप रही थीं। आखिरकार उसकी माँ बोली, बड़े प्यारसे—"बेटा, तू कल यहाँ आया था। सच-सच बोलना!" पता नहीं क्यों मेरे मुँहसे आवाज नहीं निकली। वे फिर बोलीं—"जब हम और तारा तेरे घर गये थे, तब तुम और कमला सांकल खोलकर चुपचाप मकानमें आये थे। झूठ मत बोलना, महरिनने सब देख लिया है। वह बता रही थी!"

मैंने कहा, "जी हाँ।"

उनके बाप बोले, "तुमसे किसने कहा था आनेके लिए" उनकी आवाज़ बहुत कड़ी थी। घबराकर छूटते ही मैंने जवाब दिया, "कमलाने" क्यों? यह मैं आज तक नहीं समझ पाया। शायद मेरे दिलमें डर रहा हो कि कहीं मेरे ऊपर आफ़त न आ जाय। उसके पिता मेरा उत्तर सुनकर ज़ोरसे चिल्लाये—

"देख ली अपनी लड़कीकी करतूतें !" और उसकी ओर घूर-घूरकर तेज़ीसे घूमने लगे।

माँ बोली, "क्यों बुला लाई थी ?"

मैंने कहा, "यूँ ही खेलने।"

उन्होंने फिर पूछा, "क्या खेलने ?"

मैंने फौरन जवाब दिया, "घरौंदा।" क्योंकि यह दोनों बातें ही थीं। दीवाली समीप थी। हम लोग घरौंदे बनाते थे। मैं हमेशा क़ागज, चमकीली पन्नी और दफ्ती आदिका घरौंदा बनाता था। मेरे पिताकी दूकान पर अक्सर शीशेकी पैकिंगमें चीड़के बक्स आते थे, जिन्हें वे एकके ऊपर एक रखकर कीलें जड़कर आलमारी-सी बना देते थे। सामने झालर, दफ्तीके घर, नीले लाल कागज़ोंकी फूलपत्तियाँ, सुनहरी रुपहली पन्नियोंके सिंहासन आदि। और इस प्रकार मेरा घरौंदा सजता था। माता-पिता भी थोड़ा बहुत हाथ बँटा देते थे। दीवाली खत्म होनेके बाद खिलौने निकाल दिये जाते थे और हम इनमें किताबें रखते थे। कमलाने भी घरौंदा बनाया था लेकिन मिट्टीका। दो कोठेका घरौंदा था उसका जो दालानमें एक कोने में बना था। लम्बे-लम्बे ईंटे रखकर उसने दीवाल बना ली थी। उसपर मिट्टी चढ़ा चूनाकारी भी हो गई थी। बीच-बीचमें गेरू घोलकर उसने फूल-पत्तियाँ बनाई थीं। चाँद-सूरज-तारे आदि घरौंदेके ऊपर दीवाल-रूपी आकाशमें बने थे। उस दिन मेरे घर पता नहीं क्या था। तमाम औरतें आई थीं। कमला, उसकी बड़ी बहन और माँ भी आई थीं। सब लोग जब अपने काममें लगे थे। मैं कमलाको अपना घरौंदा दिखा रहा था और समझा रहा था, कैसे उसमें पीतलकी घंटी लगेगी, वह जब बजेगी तब भगवान्‌के खानेका समय होगा। भीतर कहाँ दीया जलेगा और कब ज्यादा रात हो जानेपर भगवान् सोयेंगे। कहाँ लक्ष्मी जी सोयेंगी, कहाँ गणेशजी सोयेंगे। कौन-सा तकिया-चादर लक्ष्मीजीका है, और कौन-सा

गणेशजीका आदि-आदि। मेरे घरौंदेको देख-देख उसके मनमें अपना घरौंदा भी दिखलानेकी उत्कण्ठा बढ़ रही थी। उसके घरौंदेके लिए जब मिट्टी और गोबरका ढेर पड़ा था तब मैंने देखा था। उसके बादसे मैं उसके घर नहीं गया था। स्कूलके बाद घरका काम करना पड़ता था। नौकर था नहीं। गली पार करके ही बाज़ार था, अतः सुबह-शाम हल्दी, धनियाँ, नमक, कड़ुआ तेल, तरकारी आदि जो कम पड़ता था, लेने जाना पड़ता था। दुकानें परिचित थीं, ले आता था। शामको मास्टर, और खाली समय घरौंदेमें जुटते थे। ऊपरसे माता-पिता कड़ी निगरानी रखते थे। घरसे बाहर निकलने नहीं देते थे। उनका ख्याल था इधर-उधरके लड़कों के साथ खेलकर मैं खराब हो जाऊँगा; गाली सीख जाऊँगा इत्यादि। खैर, मैं कमलाका घरौंदा नहीं देख सका था। उसने कहा, "चलो मेरा घरौंदा देख आओ। तुमसे तो अच्छा नहीं है, लेकिन मेरे गणेशजी तुम्हारेसे बहुत अच्छे हैं।" मैंने कहा, "चल"।

और हम लोग किसी तरह सांकल खोल घरमें घुस गये थे। घरौंदेके सामनेकी चहारदीवारीमें एक बोरा बिछा था, जिसपर उसने अपने माँकी कोई फटी धोती डाल ली थी। उसपर हम लोग बैठे थे और मैं उसके गणेश जीको देख-देखकर हँस रहा था। कह रहा था, "गणेश है या घोंघामल, तोंद निकली है इसकी"। और उसकी मिट्टीकी घंटी बजा मैंने कुछ संध्याके मंत्र पढ़े जो मुझे सात वर्षकी उम्रमें ही रटा दिये गये थे। माता-पिता आर्यसमाजी थे, वैदिक संध्या पूरी-पूरी रटा दी थी और मैं एक ईश्वर भक्तकी तरह कड़े नियमसे छोटी घंटीमें पानी रख पूजा करता था और उसके बाद दरवाज़ा खुला देख महरिन काम करने आई थी और हम लोग उठकर चले गये थे। कुल इतनी ही बात थी। लेकिन उनके पिता मेरा "घरौंदा," उत्तर सुनकर जोरसे चिल्लाये, "यह सब मैं जानता हूँ।" और फिर अपनी पत्नीसे बोले—

"यह तो मैं पहले ही जानता था। यह सब उसकी ही शरारत है, अभी दस वर्षमें ही उसके ये हाल हैं। बदमाश, चुड़ैल कहीं की। टाँग तोड़ दो उसकी जो यह कलसे घरसे बाहर निकले।" उसकी माँ कुछ नहीं बोली, केवल मुझसे इतना कहा, "जाओ"। मैं मुक्ति पाये पंछीकी तरह भागा। एक लम्बा दलान पड़ता था दरवाज़े तक पहुँचनेमें। जब मैं दरवाज़े तक पहुँचा तो कमलाके चीखकर रोनेकी आवाज़ सुनाई दी। मैं रुक गया। मैंने उसके गालपर पड़ी हुई ज़ोरकी चपतकी आवाज सुनी और उसके बाद उसके पिताकी ज़ोरसे गरज, "मैं पूछता हूँ आखिर कोनेमें छिपी घरौंदेमें बैठी उसके साथ क्या कर रही थी?" इतना सुनकर मैं चला गया। मैं उस समय यह न समझ सका था कि आखिर हमने क्या गुनाह किया था, उनका क्या मतलब था। पर आज बात समझमें आती है और उनकी बेवक़ूफ़ीपर तरस भी आता है। उसके बाद लगभग दस दिन बाद मेरी कमलाकी मुलाकात हुई, वह बहुत गंभीर थी। उसकी चंचलता पता नहीं कहाँ उड़ गई थी। वह माँके पास अपनी बड़ी बहनके साथ कुछ लेने आई थी। मेरे कमरेमें भी वह आई। मैं नई-नई कापियों पर काग़ज़ चढ़ा रहा था। मेरे पास वह खड़ी रही चुपचाप खामोश। मैं भी चुपचाप था। यद्यपि उसे देखकर दिल उछल रहा था। उसने पूछा—

"तुम्हें तो नहीं मारा बाबूजी ने।"

मैंने कहा, "नहीं"

कुछ देर रुककर मैंने फिर पूछा—

"तुझे मारा क्यों था कमला?"

वह बोली—"पता नहीं क्यों? कहते थे लड़कोंके साथ अकेलेमें नहीं खेलना चाहिए"। फिर वह चली गई। मैंने उस दिन अपनी माँसे पूछा। उसने भी कहा—"लड़के लड़कियोंके साथ नहीं खेलते" और तबसे लड़कियों के साथ खेलते समय मैं सोचता, यह बुरा है और अक्सर अपने साथ

खेलने वाली लड़कियोंसे मैं कह देता, "मैं लड़का हूँ, तुम्हारे साथ नहीं खेलूँगा।"

उसके बाद फिर कमलासे मुलाकात नहीं हुई। शायद वे लोग मकान छोड़कर किसी दूसरी तहसीलमें चले गये थे। बचपनके दिनोंमें साथी बनते और छूटते देर नहीं लगती। न जाने कितने साथी बनते हैं, न जाने कितने छूट जाते हैं; भविष्यमें उसका कोई लेखा-जोखा हम नहीं रख पाते। फिर और नये-नये साथी बने, लेकिन कोई ऐसा साथी नहीं बना जो स्मृति रूपमें भी मेरे मस्तिष्कमें ज़िन्दा रहता। इसका कारण मेरी गंभीर प्रकृति भी। खेलकूदसे मुझे विशेष शौक़ नहीं था, फिर ऐसे लड़कोंके और कम साथी होते भी हैं जो खेल-कूदमें भाग न लेते हों। चार-पाँच साल तक फिर कमलाका कोई पता न रहा। उसके बाद जब मैं 'नाइन्थ क्लास'में था, कोई वकील थे उनके यहाँ एक शादी पड़ी। मुझे भी माँके साथ जाना पड़ा। माँने बताया, कमला और उसकी माँ भी आई है। लड़केकी शादी थी। बारात कहीं बाहर गई थी। घरपर रात-रात भर औरतें गाती बजाती थीं। मैं बाहर लड़कोंमें बैठता था।

किसी कामसे मैं माँके पास एक क्षणको भीतर गया। मैंने देखा तमाम औरतें बैठी हैं और उनके बीचमें कमला नाच रही है। मुझे आज भी उसका वह रूप नहीं भूलता। गौरवर्ण अत्यन्त सुन्दर, हँसमुख सूरत और गज़बका श्रृंगार। उसे देखकर मैं फौरन खिसक गया। एक लड़की जब नाच रही हो तब वहाँ खड़े होकर देखना मेरे संस्कारके विरुद्ध था। मैं कमरेके बाहर निकल आया। यद्यपि मेरा जी कमलाका नृत्य देखनेको करता था। इसीलिए कुछ देर दरवाज़ोंकी दराज़को देखता रहा। उस समयकी दृष्टि आलोचनाकी नहीं प्रशंसाकी थी। लेकिन मजबूरीने मुझे वह नाच न देखने दिया। यह सोचकर कि लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे? और फिर लुकछिपकर नाच देखते हुए मैं चला आया। अपनेको

कितना दबाया था मैंने, यह आज महसूस हो रहा है। दूसरे दिन माँ ने कहा—

"कमला तुझे पूछ रही थी।"

मैं खामोश रहा। इसका जवाब ही क्या हो सकता है। वे फिर बोलीं, "सुना है तूने, कमला नाचती बहुत अच्छा है, पता नहीं उस देहातमें रह-कर उसने यह सब कहाँसे सीखा है।" कुछ रुककर बोलीं—

"गाती भी बहुत अच्छा है। मगर...बड़ी बेहया हो गई है। शरम तो उसमें है ही नहीं। मैंने तो उसकी माँसे कह दिया, नाचना-गाना बुरा नहीं, पर ज्यादा मत उकसाओ नहीं तो बिगड़ जायगी।"

इसके बाद फिर पाँच साल तक कमला नहीं मिली। इन पाँच वर्षों में मेरी ज़िन्दगी बिलकुल ही बदल गई। मैं क्यासे क्या हो गया, इसका अनुमान भी लगाना कठिन है। ज़िन्दगीके नये-नये परदे खुले, नई-नई चीज़ें आईं, उनका आकर्षण इतना प्रबल था कि मेरे हृदयमें कमलाका रहा-सहा अस्तित्व भी समाप्त हो गया। एक घटना याद आ रही है। मैं उस शहरमें गया हुआ था जहाँ कमलाके पिता बदलकर आ गये थे। उनके विभागमें हर दूसरे-तीसरे वर्ष बदली हुआ करती थी। मैं अपने चाचाके यहाँ ठहरा था। एक दिन साँझके समय उन्होंने कहा—"आओ चलो घूम आयें!"

मैंने कहा, "कहाँ जायँगे?"

वे बोले, "ब्रजकिशोरके यहाँ"

"कौन ब्रजकिशोर?" मैं कुछ सोचता हुआ बोला।

"तेरे घरके पड़ोसमें वे बहुत दिन रहे हैं; तू नहीं जानता।" उन्होंने आश्चर्यसे कहा।

मुझे याद आ गया ब्रजकिशोर कमलाके पिताका नाम है।

मैंने कहा, "कितनी दूर है उनका घर?"

उन्होंने कहा, "दो मील।"

मैंने कहा था, "आप हो आइये। दो मील जानेकी मेरी हिम्मत नहीं। दो फर्लांग होता तो सोचता।"

आज मैं सोचता हूँ, कमलाके लिए कुछ दूर चलने तककी तकलीफ़ मैं नहीं उठा सकता था। इतना भी स्नेह उसके लिए मेरे दिलमें नहीं था जब कि बेकारमें न जाने कितना इधर-उधर घूमा करता था। चाचा चले गये और मैं पड़ा-पड़ा ग्रामोफोन पर पिटे हुए रेकार्ड बजाता रहा। जैसे कमलाकी मुलाक़ातसे उन्हें बजाना ज्यादा क़ीमती हो।

दो महीने बाद मुझे फिर किन्हीं छुट्टियोंमें चाचाके पास जाना पड़ा। किसी बातके अवसरपर वे कहने लगे।

"उस बार तेरा ज़िक्र मैंने ब्रजकिशोरके यहाँ किया था। मैंने बताया राजन आया है, पर कुछ थका हुआ था इसीलिए नहीं आया। वे लोग तो कुछ नहीं बोले। लेकिन उनकी लड़की कमला है न, वह जैसे तेरे न जाने से कुछ चिढ़ी थी, कह रही थी—

"हाँ साहब बड़े आदमी हैं। पैर न घिस जाते इतनी दूर तक आते हुए। अगर वह कल रहें तो उनको आप अवश्य भेज दीजियेगा, नहीं तो जब फिर आयें तब कहिएगा 'कमला ने बुलाया है,' अगर इस पर भी न आयें तो मुझे इत्तला कीजियेगा मैं खुद आऊँगी। यह क्या इन्सानियत है कि हज़ार बार वह यहाँ आ चुके,लेकिन यहाँ एक बार भी नहीं आये। जैसे यह उनका घर ही न हो। हम लोगों से उन्हें कोई मतलब ही न हो" चाचा इतना कह कर खामोश हो गये। और मैं सोच रहा था कितनी आत्मीयता है इस संदेश में। तभी चाचा चाची से बोले "बड़ी मुँहफट लड़की है, ऐसी बातूनी लड़की तो मैंने कहीं देखी नहीं। काफी इण्टेलीजेण्ट भी है।"

चाची बोलीं, "जो भी हो। मैंने तो उसकी बहुत बदनामी सुनी है। तमाम कालेजके लड़के उसके पीछे पड़े रहते हैं। उसकी माँ कह रही थी 'बड़ी आफ़त है इस लड़कीके मारे। कहीं शादी कर देती तो छुटकारा मिलता। पर इनके बाप घर बैठे लड़का पाना चाहते हैं।"

चाचा बोले, "यहाँ मिस्टर ब्रजकिशोरकी ग़लती है। क्यों उसे इधर-उधर कान्फ्रेंन्स वग़ैरह में नाचने-गाने जाने देते हैं? ज़माना नाज़ुक है, लड़कियोंको तनिक भी आज़ादी नहीं देनी चाहिए।"

चाची बोलीं, "वे विचारे तो नहीं चाहते पर कमलाके आगे किसीकी चलती नहीं।"

"लड़कीके आगे माँ-बापकी न चले!" चाचा हँसने लगे। चाची बोलीं, "बात तो कुछ ऐसी ही है। वह बहस करने लगती है, माँ-बाप कोई जवाब नहीं दे पाते। फिर जवान लड़कीपर सख़्ती भी तो नहीं की जा सकती।"

मैंने चाचा-चाचीकी ये बातें सुनीं और इसे सुनकर कमलाके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गई। क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस समाजमें एक बहुत बड़ा दल ऐसा है जिसका काम ही कुमारी लड़कियोंको बदनाम करना होता है। मुझे हर ऐसे आदमीसे नफ़रत है जो किसी लड़कीके बारेमें बात करते समय उसके चरित्रपर आक्षेप करता है। फिर अभी हमारे समाजमें आदमीके रूपमें कीड़े फूल रहे हैं। वे कला क्या है, इसे क्या समझें? कलाकी आड़में उनकी कुत्सित मनोवृत्तियाँ वह गन्दगी तलाश करती हैं जिसमें ये नरकके कीड़े रेंगते हैं। हमें तो आज ऐसे आदमी चाहिए जो कलाकी उन्नति करें, किसी भी अवरोधकी परवाह न करें और उनको, जो अपनी संकीर्णताके कारण कला या कलाकारका अपमान करते हैं, ऐसी ठोकर मारें कि आँख खुलनेपर गन्दगी भरी दुनिया भी उन्हें फूलों भरी लगने लगे।

मैंने उसी क्षण निश्चय किया कि मैं इस बार कमलासे अवश्य मिलूँगा पर कुछ ऐसे कारण आ गये कि मुझे बिना मिले ही चला आना पड़ा। फिर पूरे एक वर्ष तक मैं चाचाके पास भी नहीं जा सका। इस बार यद्यपि कमलाको देखने की इच्छा थी। बी० ए० की परीक्षा देकर जब मैं गर्मीकी छुट्टियोंमें घर गया तो पिताने कहा, "तू पयानपुर चला जा। ब्रजकिशोरका निमंत्रण आया है। खुद भी बेचारे कई बार कह चुके हैं। हम लोगोंके तो जानेमें बड़ी झंझट है, पर किसीका जाना ज़रूरी है। उनकी लड़कीकी शादी है।" मैंने पूछा, "बड़ी लड़कीकी।" उन्होंने कहा, "नहीं कमलाकी।"

मुझे आमतौर से विवाह-शादीमें जानेसे तकलीफ़ होती है पर पता नहीं किस प्रेरणासे मैं वहाँ एक दिवस पहले ही पहुँच गया। वह एक तहसील थी। देहात और शहर दोनोंका मिश्रण। लोगोंने मुझे दस साल बाद देखा था, अतः जल्दी पहचाना नहीं। फिर तो बादमें अपनी प्रकृति के कारण मैंने बहुतसे काम ओढ़ लिये। बरात लाहौरसे आई थी। पूरी शादी खत्म हो गई पर मैं कमलाको देख न सका। भाँवरोंके समय रात अधिक हो जानेसे सो गया और फिर जनवासेकी देख-भाल करना मेरी ड्यूटी थी, अतः मुझे वहीं बना रहना पड़ा। चलते समय दोनों दलोंमें काफ़ी झगड़ा-सा हो गया। लड़के वाले लड़की साथ ले जाना चाहते थे और लड़की वालोंका कहना था कि बिदा नहीं होगी। लड़कीकी तबीअत ख़राब है, एक तो इतना लम्बा सफ़र, फिर दवाका क्रम भंग हो जायगा, उसकी बिदा फिर हो जायगी। उन्हें लड़कीको मारना नहीं है, लेकिन आखिरकार लड़के वालोंकी ही जीत हुई। कमलाकी बिदाई करनी ही पड़ी।

घरसे स्टेशन दो मील था। बारातको पहुँचाने मुझे भी स्टेशन जाना पड़ा। क्योंकि सामान अधिक था और उसी गाड़ीसे लाहौर 'बुक' करना

था। स्टेशन पहुँचकर मालूम हुआ कि गाड़ी चार घंटे 'लेट' है। छोटा स्टेशन। स्टेशन मास्टरकी इच्छा पूरीकर देनेपर वे स्वयं ये सब काम करने लगे। मैं मुक्त हो गया। स्टेशनके पीछे आमके घने छायेदार वृक्ष थे। वहींपर दरियाँ बिछीं। सुबह सात बजेका समय था। चार घंटे लेट होनेके कारण गाड़ी ग्यारह बजे आती। अतः सारे घराती, बरातियोंके भोजन आदिका प्रबन्ध करनेमें लग गये। बरातियोंमें कुछ स्नान करने और इन्तजाम करने और बाक़ी गप्प मारने बैठ गये। कमलाकी पालकी एक कोनेमें, एक पेड़की आड़में सबसे अलग दूर रक्खी थी। मेरे दिलमें रह-रह कर कमलासे इस चलती-चलाती बार मिल लेनेकी इच्छा उठ रही थी फिर वह बीमार भी तो थी। पर हिम्मत नहीं पड़ रही थी। उससे, जो एक नव-वधू हो, उससे बात करना जो दुनियाकी नज़रोंमें ग़ैर हो, मुझे एक गुनाह लगता था। तभी एक नौकरानीने, जो पालकीके साथ आई थी, आकर कहा आपको 'बहिनी' बुला रही हैं। मैं चला गया। समीप पहुँचते ही एक बड़ा धीमा और मीठा स्वर सुनाई दिया। उसने कहा—

"आओ, अब तो तुम बहुत बड़े हो गये।" और इतना कहकर उसने पालकीका एक तरफ़का पर्दा बिल्कुल उठा दिया और बोली, "आओ, बैठ जाओ" मैं झिझकते-झिझकते बैठ गया। उसने किसी प्रकारके आडम्बरका प्रदर्शन नहीं किया, नमस्कार तक नहीं। उसके इस पहले वाक्यने दस सालकी दूरी मिटा दी। मैं कुछ संयत होते हुए बोला—

"तुम्हीं कौन छोटी रह गई हो।" वह एक फीकी हँसी हँस पड़ी। वह एक उम्दा सलवार और ओढ़नी पहने थी। बहुत दुबली, कमज़ोर और पीली लग रही थी। वधूकी तरह वह तमाम आभूषणोंसे सजी थी। मैंने यूँ ही बात चलानेको कहा—

"सलवार कबसे पहरने लगी हो?"

"लाहौरकी है।" व्यंगसे वह बोली।

मैं चुप रहा। उसने नौकरानीको बुलाकर कहा—"उधर चली जाओ, किसीको इधर मत आने देना।" फिर बोली—

"दस साल बाद मिल रहे हो। लड़की न होती तो देखती कैसे नहीं मिलते ?" मैं चुप रहा। मेरी आँखोंके सामने तमाम पिछली बातें नाचने लगीं।

"मेरे घरके पास तक आते थे पर मेरे यहाँ आनेमें तुम्हारे पैर थकते थे। बुलाया तब भी नहीं आये। आज भी अगर न बुलाती तो शायद नहीं आते ?" मैं कुछ बोल न सका। इतने स्नेहसे शिकायत करनेवाले भी जीवनमें कहाँ मिलते हैं ? वह फिर बोली—

"मेरी शादीमें कैसे आ गये ? अच्छा हुआ, चले आये। बहुत मानता मानी थी, तुम किसी तरह आ जाते, तुम्हें देख लेती चलती बार"। यह 'चलती बार' उसने कितनी दर्द भरी आवाज़में कहा था। वह कुछ रुककर फिर कहने लगी—

"तुम जैसे ही आये, मुझे मालूम हो गया। यद्यपि भीतर नहीं आये तुम। मिठाई भिजवाई थी! सोचा, कौन जाने लोग काम-काजमें भूल जायँ और तुम शर्म और तकल्लुफकी वजहसे यूँ ही रह जाओ।" मुझे याद आया, जब मैं आया था तब नाश्ता कर लेनेके बाद एक नाश्ता और आया था। नौकरानीने पूँछनेपर कहा था, "भीतरसे भेजा है।" मैंने समझा मौसीजीने भेजा होगा। और यह भीतर वाला नाश्ता ही मैं ठीकसे कर सका था क्योंकि यह अच्छा था। विवाह आदिमें दो प्रकारकी चीज़ें बना करती हैं। कुछ मामूली और कुछ खास ढंगसे। वह कहती रही।

"समझमें नहीं आता, तुममें इतनी शर्म क्यों है ? ईश्वरको चाहिए था तुमको लड़की बनाता, मुझको लड़का।" इतना कहकर वह हँस पड़ी। पर मैं खामोश ही रहा। उसने पूछा—

"ये सुस्ती क्यों ? कुछ उदास दिख रहे हो। तुम्हारे बारेमें सुना था तुम काफ़ी खुशमिज़ाज हो।"

मैंने कहा, "बचपनकी बातें याद आ रही हैं !" वह पुलक उठी, "सच तुम्हें बचपनकी सब बातें याद हैं। मैं तो जानती थी भूल गये होगे। तभी न ज़िन्दा रहकर भी तुम्हारे लिए कमला मर गई थी।"

मैंने कहा, "चुप रहो, क्या बकती हो !"

वह बोली, "ग़लत कहती हूँ क्या ? या तो अपनेको बड़े आदमी समझते रहे होगे। सोचते होगे कालेजमें पढ़ता हूँ। और वह एक मामूली पढ़ी लिखी देहाती लड़की; उससे दूर ही रहना अच्छा। ज्यादा पढ़ लेनेका तुम्हें घमंड हो गया है। यहाँ तो गँवार ही रह गई। बहुत चाहा, बहुत सर पटका पर मेरी चली ही नहीं। काश, मैं भी कालेजमें पढ़ पाती !" इतना कहते-कहते उसकी आवाज़ डूब गई। मैंने देखा, जैसे वह व्यथासे भर उठी है।

मैंने कहा, "अच्छा चुप भी रहो, बहुत कह चुकी हो।" फिर जैसे वह सचमुच यह प्रसंग टालकर अपनेको हल्का करती हुई बोली—

"शादी कब करोगे ?"

मैंने कहा, "मैं शादी करूँगा ही नहीं।"

"क्यों, क्या किसीसे मोहब्बत हो गई है !"

"नहीं तो।"

वह हँसते हुए बोली, "मैंने सोचा शायद कालेजमें किसीसे मोहब्बत हो गई हो !"

मैं बोला, "क्या कालेज मोहब्बत करनेकी जगह है ?"

उसने कहा, "लड़के तो यही समझते हैं।" उसका यह जवाब सुनकर मैं चुप हो गया। थोड़ी देर बाद बोला,

"तुमने किसीसे मोहब्बत की है !"

"कोई इस लायक मिला ही नहीं।" वह मुसकराते हुए बोली।

मैंने कहा, "मैंने तो सुना है तुम्हारी किसीसे मोहब्बत हो गई है।"

उसने कुछ कड़ी आवाज़में कहा, "यह नहीं सुना मैं आवारा हूँ, बदमाश। एक नहीं, जाने कितने लड़कोंसे मेरा सम्बन्ध है ! इधर-उधर कान्फ्रेन्सोंमें नाचती-गाती फिरती हूँ।" मेरा चेहरा फक पड़ गया। मैंने उसके मुखकी ओर देखा जिसमें घोर उपेक्षा और घृणाके चिह्न थे। मैंने बात बदलनेकी गरजसे बड़े स्नेहसे पूछा, "तुमने नृत्य-कला कहाँसे सीखी। कमला, मैंने तुम्हारे नृत्यकी बड़ी तारीफ़ सुनी है।" मेरी बात सुनकर वह न हँसी, न मुसकराई वैसे ही गंभीरतापूर्वक बोली—

"सीखा कहाँ है ? लेकिन सीखना चाहती थी। इतने ही पर तो यह हाल है, अगर सीखती तो जाने क्या होता ?...अब उस जन्ममें सीखूँगी।" इतना कहते-कहते उसकी आवाज़ जैसे उदासीके समुद्रमें डूब गई और वह इतनी पैनी दृष्टिसे शून्यमें देखने लगी कि मैं सहम गया। मेरे मुखसे निकल पड़ा।

"कमला !"

उसने कहा, "कहो"

मैंने कहा, "तुम्हारी तबीयत खराब है लेट जाओ।"

उसने कहा, "क्यों ? क्या लेटनेसे तबीयत अच्छी हो जायगी ?"

मैंने कहा, "हाँ, आराम तो मिलेगा ही"।

वह बोली, "मुझे आराम नहीं चाहिए और अगर लेटना ही होगा तो एक साथ चितामें ही लेटूँगी।" उसकी आँखें वैसी ही बनी रहीं निस्तेज, पैनी, शून्यको फाड़कर खा जानेकी प्रतीक्षामें। मैं घबरा उठा। मैंने कहा, "कमला गंभीर मत बनो। थोड़ी देरके लिए तो मेरे सामने

खुश रहो। मेरा इतना कहना था कि वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। लेकिन ऐसी हँसी, जिसके पीछे कोई अनुभूति नहीं। भयानक। हिस्टीरियाके हमले सी। मैं सर झुकाकर बैठ गया। मुझे परेशान देख वह कुछ शांत होकर बोली—

"जानते हो मैं कहाँ जा रही हूँ ?"

मैंने मुसकराकर कहा, "लाहौर !"

वह भी बोली कुछ मुसकराकर, "नहीं जी मरने।"

मैंने कहा, "चुप रहो। क्या मरने-मरने लगाई है ! शुभ अवसरों-पर ऐसी बातें नहीं की जातीं। तबीयत तो यूँ ही खराब हो जाती है। वहाँ पहुँचोगी सब ठीक हो जावेगी।"

वह बोली, "यह तबीयत ठीक होनेके लिए ख़राब नहीं हुई है।"

मैं चौंक उठा, पर संयत होकर बोला, "क्या हुआ ? इच्छा रक्खो, अच्छी हो जाओगी।"

वह बोली, "यही इच्छा तो नहीं है, फिर एक गंवार और देहाती बनकर जीने से मरना ही अच्छा।" कहकर वह एक फीकी हँसी हँसने लगी।

तभी अचानक उसके पति पर दृष्टि गई जो कुछ दूर पर किसी से खड़े-खड़े बातें कर रहे थे। नाटे और मोटे, सूट पहने हुए। बड़े भद्दे। कमला जितनी ही दुबली-पतली सुन्दर थी, वे उतने ही नाटे-मोटे और भद्दे थे। पढ़े भी थे तो शायद हाई स्कूल फ़ेल। रुपया था, व्यापार करते थे।

मैंने पूछा, "देखा उनको ? पसन्द हैं ?"

वह हँस पड़ी और मुँह बिचकाकर बोली, "उस गणेशजी ऐसे हैं मोटे धमधूसर।" मैं भी हँसने लगा।

मैंने कहा—"शादीके पहले नहीं देखा था ?" उसने 'न' सूचक गर्दन हिलाई। फिर बोली—

"शादीमें लड़कियोंसे कौन पूछता है? फिर मुझसे किसकी हिम्मत थी, जानते हो थे मैं मना कर देती। खैर, बाबूजीके सरकी बला टली। बेचारोंकी बड़ी बदनामी हो रही थी। ये लोग भी अच्छे ही हैं, केवल सूरत पसन्द की, दहेज-ओहेज भी नहीं लिया।"

तभी मुझे ऐसा लगा, जैसे कुछ लोग मुझे खोज रहे हैं, क्योंकि गाड़ी आनेका समय हो गया था। मैं उठनेको हुआ। मेरा दिल भर आया था। उस थोड़ी देरकी बातचीतने मुझे दर्दसे भर दिया था।

मैंने पूछा, "मेरे लायक कोई सेवा?"

वह फिर फीकी हँसीमें बोली, "मेरे लिए? मुझे अब कुछ नहीं चाहिए। मैंने जो-जो चाहा मुझे नहीं मिला, मुझे नहीं दिया गया। और अब आखिरी वक़्तमें ज़रूरत भी क्या?" कुछ रुककर फिर बोली, "तुम्हारे चाचा कह रहे थे, तुम लेखक हो रहे हो। अखबारोंमें काफ़ी लिखते-पढ़ते हो। मैं तो रह गई। बहुत-सी चीज़ें कहना चाहती थी, लिखना चाहती थी, पर इस लायक नहीं हूँ। कुछ ऐसा करो कि यह दुनिया बदल सके। हम स्त्रियोंकी आवाज़ भी लोग सुनें और सुननेकी ज़रूरत समझें। काश! मैं तुम्हारी तरह होती तो दुनियाको बताती कि ऐसी ज़िन्दगीसे लड़कीका गला घोटकर मार डालना अच्छा है।"

मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े और मैं एक क्षण भी अपनेको अधिक ठहरनेमें असमर्थ पाकर तेज़ीसे चला आया और काम करने लगा। गाड़ी चलते समय उसने इशारा किया। मैं डब्बेके साथ दौड़ने लगा। उसने कहा, "देखो भूलना नहीं चाहे कमला मर भी जाय।" और फफककर रो पड़ी। मैं पीछे छूट गया और वह आँखोंसे खो गई।

और आज कमला मर गई, जीमें आता है, मैं यह वाक्य 'कमला मर गई' बार-बार दोहराऊँ। तबतक दोहराऊँ जबतक दुनिया उसे सुनकर यह

न सोचने लगे कि आखिर वह क्यों मर गई ? एक पौधा था जिसे पनपने नहीं दिया गया, जिसे कुचला गया और जो अन्तिम साँस तक इस कुचले जानेके खिलाफ़ विद्रोह करता रहा और दुनिया जिसपर हँसती रही और आज जिसे भूल गई। माँने उसकी ज़रूरत भी नहीं समझी कि कमलाका मरना दो लाइनमें लिख देती। कुछ ऐसा लिखती जिसमें कुछ विचार होता, कुछ अनुभूति होती, कुछ संवेदना होती, पर यह 'कमला मर गई' विचार-शून्य, हृदय-शून्य, संवेदना-शून्य-सा वाक्य। ऐसी तो न जाने कितनी 'कमलाएँ' रोज मरती हैं। कोई कहाँ तक सोचे। पर......पर कमला, जैसे लगता है तुम मर गई तो कोई बात नहीं; पर न मरतीं तो अच्छा था। खैर अब तो कमला मर ही गई। काश कि वह अब भी जीती रहती। पर जीती कैसे ?...

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादवका परिचय उन्हींके शब्दोंमें इस प्रकार है—

"जी, नाम मेरा राजेन्द्र यादव है। शहरोंमें शहर आगरामें २८ अगस्त १६२६ को अवतार लिया। पिताजी डिस्ट्रिक्ट बोर्डके डॉक्टर थे सो बचपन उनके साथ मथुराके क़स्बों, मेरठ और आगरे में बीता (यों वह बीत ही गया हो, सम्पर्कमें आनेवाले हम-उम्र या छोटे बुज़ुर्गोंका ऐसा क़तई विचार नहीं है।)। आगरा कॉलेज नामक वटवृक्षके नीचे 'बोधिसत्त्व' प्राप्त किया सन् ५१ में। तबसे रिसर्च, 'ज्ञानोदय' और सरकारी नौकरीके त्रिलोकमें भटक चुका हूँ। फ़िलहाल कलकत्तामें अहिंदी भाषियोंको सरकार बहादुरकी ओरसे हिन्दी पढ़ाता हूँ। फिर भी लगता ऐसा रहता है जैसे चिरन्तन बेकार हूँ।"

राजेन्द्र यादव कदाचित् सूत्र रूपमें कहानी कहनेमें विश्वास नहीं रखते। उनकी कहानियोंसे लगता है कि वह विस्तारके साथ ही कहानी कह सकते हैं। 'डिटेल्स' के प्रति उनका मोह बहुत है; और यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके 'डिटेल्स' बहुत सच्चे, खरे और मनको चुभनेवाले होते हैं। मध्यवर्गीय युवक-युवतियोंकी कांक्षाएँ, परवशता और घुटनको राजेन्द्र यादवने अपनी कहानियोंमें बहुत सफलताके साथ चित्रित किया है। वह स्वयं कोई सन्देश नहीं देते; किन्तु उनकी कहानियाँ घिसी-पिटी परम्पराओंसे विद्रोह करनेके नोटपर ही समाप्त होती हैं।

आपके दो उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' और 'उखड़े हुए लोग'; चार कथा-संग्रह 'रेखायें, लहरें और परछाइयाँ,' 'देवताओंकी मूर्त्तियाँ' 'खेल-खिलौने' और 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है'; तथा चेखवका एक पुस्तकाकार 'काल्पनिक इंटरव्यू' प्रकाशित हो चुके हैं। चैखव के 'डुएल' लघु उपन्यासका अनुवाद 'अँधेरेके पार,' चैखवके सर्व-श्रेष्ठ नाटक, तुर्गनेवके दो लघु-उपन्यास और लर्मन्तोवका 'द हीरो ऑफ़ अवर टाइम' शीघ्र प्रकाशित होंगे।

• खेल-खिलौने

—राजेन्द्र यादव

बड़े आदरके साथ जैसे ही हमने दोनों हाथ माथेतक उठाकर नमस्कार किया, कार धुर्रघूँ करके हमारे बीचसे चल दी। एक ओर मैं खड़ा था, दूसरी ओर बाबू जी। दरवाजेपर झुण्डका झुण्ड बनाये वे लोग झाँकती हुई कारकी ओर हाथ जोड़ रही थीं। जब वे कारकी ओर देखतीं तो बड़ी शिष्टता और नम्रतासे मुसकुरा देतीं, जैसे वे इसीकी अभ्यस्त हैं और जब ज़रा पीछे हटकर दरवाज़ेसे बाहर निकल आते किसी बच्चेको भिड़कतीं या क्रुद्ध होकर पीछे धकेलतीं तो उनकी भवें लपकती तलवारकी तरह माथेपर तन जातीं। कारके स्टार्ट होते ही इतनी देरसे लगाये हुए शिष्टताके सारे अनुशासन टूट चुके थे और उन कार वालियोंकी मुखर आलोचनाएँ प्रारम्भ हो गई थीं—जिनका विषय था, चश्मेकी कमानी, पाउडर, दाँत, मुँह, बाल काढ़नेका ढंग, ब्लाउज़की डिजाइन और कट, साड़ीकी किनारी इत्यादि। नये आदमियोंके सामने ज़बर्दस्ती चुप किये गये और स्वतः डरे हुए बच्चे अब और ज़ोरसे चीज़ें माँगने लगे थे।

इससे पहिले कि मैं जवाब दूँ, छोटी वीराने उछल-उछलकर बता दिया—"सुधीन्द्र भाई साहब, आज नीरजा जीजीको देखने आई थी उनकी सास।" और बच्चोंने खूब उछल-कूदकर एक साथ ही इस बातको दुहराया "सास देखने आई थी।"

पृथ्वीपर पड़े हुए कारके निशानोंको देखता हुआ मैं लौटने ही को था कि मेरी निगाह सामनेसे आते हुए सुधीन्द्र भाईपर पड़ गई। शेरवानी, ढीला पाजामा, सैंडल और हाथमें अटैची लिये वह धूलमें सने चले आ

रहे थे। मैं पूछनेको ही था "लौट आये ?" तभी स्वयं उन्होंने ही पूछ लिया—"कहो भाई क्या हल्ला है ? आप सबलोग क्यों यहाँ जमा हो रहे हैं।" एक विचित्र प्रकारका बुझा हुआ उनका स्वर था।

फिर भी मैंने पास जाकर उनके कन्धेपर हाथ रखकर गम्भीरतासे बताया, "नीरजाकी सुसरालसे कुछ स्त्रियाँ देखने आई थीं उसे, अभी तो गई हैं आपके आगे-आगे। हमलोग उन्हें विदा करने आये थे। आप सीधे स्टेशनसे ही आ रहे हैं न, लाइए अटैची मुझे दीजिए। नलिनीके घर सब ठीक-ठाक है न, तार देकर क्यों बुलाया था ?" अटैची मैंने उनके हाथसे ले ली, लेकिन मुझे लगा सुधीन्द्र भाईके चेहरेपर उत्साह नहीं था।

"हाँ तो नीरजाको देखनेको आये थे, फिर क्या हुआ ?" उन्होंने सिर झुकाकर ओठोंकी पपड़ीको उँगलियोंसे टटोलते हुए पूछा। हम लोग एक-एक क़दम भीतर चल रहे थे। बरामदा पारकर अब हम ड्रॉइंगरूममें आ गये थे। बाबूजी अपने कमरेमें चले गये, जीजी, माताजी, भाभी, बुआ, और छोटे-छोटे बच्चे सब हमसे पहिले ड्रॉइंगरूममें आ चुके थे। सोफे और कोचपर अब वे लोग बैठ गई थीं। बीचकी मेज़पर उन देखनेवालोंके लिए लाये गये नाश्तेके बर्तन, कप, प्लेटें, चम्मच, चायदानी, गिलास, ट्रे इत्यादि रखे थे। किसी प्लेटमें बाक़ी बची दाल-मोट पड़ी थी, किसीमें बंगाली मिठाईको काटता चम्मच। प्यालोंके तलोंमें थोड़ी-थोड़ी चाय बच गई थी। एक बड़ी प्लेटमें केलोंके छिलके, लुकाट और सेबके बीज, सन्तरेकी जेली और टोस्टमें लगानेके मक्खनकी टिकियाके काग़ज़ पड़े थे। मेज़पर चारखानेका मेज़पोश था।

"आओ भाई सुधीन्द्र, आओ।" सभीने हमें देखकर उत्साहसे बुलाया—"तुम कब आये ? अभी आ रहे हो ? अरे, ज़रा देर पहिले आते।" अपने पास बैठनेकी जगह छोड़कर बुआने आपसमें बड़े उत्साहसे होती

हुई बातोंका सिलसिला एकदम तोड़कर कहा। मैंने अटैची कोनेमें रख दी और बीचकी मेज़ एक ओर दीवालके सहारे हटाकर उस जगह एक आराम कुर्सी खींच लाया। सुधीन्द्र भाई उसी पर बैठ गये, मैं हत्थेपर बैठ गया। बच्चे इधर-उधर घेरकर खड़े उस बचे हुए नाश्ते चाय, फल इत्यादिकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछने धीरे-धीरे अपनी माँओंसे माँगना भी शुरू कर दिया था। बुआने जैसे बिलकुल नई बात हो, सुधीन्द्र भाईको सूचना दी—"नीरजाको देखने आये थे, उसकी सुसरालसे जहाँ रिश्ता हो रहा है न।"

तभी जीजीने एकदम कहा—"मैं यहाँ आई कमरेमें कंघा लेने, देखा एक चश्मेवाली औरत खड़ी है। मैं एकदम भक रह गई—हाय राम है कौन यह, यों घुस आई है। उसके पीछे एक और लड़की-सी, फिर एक तेरह-चौदह सालका लड़का। पूछा, तो उसने बताया—हम लोग बनारससे आये हैं। मेरी समझमें नहीं आया, क्या करूँ। सबसे पहिले जाकर बाबूजी को जगाया। वे भट तहमद बाँधे ही दौड़े। और जब भाभीको बताया, तो चूल्हेमें रोटी डालकर वह भागी कि बस! और भैया, बुआने तो तमाशा ही कर दिया, कभी इस धोतीको उठाये कभी उस ब्लाउज़को पहने, 'मैं क्या पहनूँ मैं क्या पहनूँ' कहती-कहती सारे घरमें ऐसी नाची-नाची फिरी हैं कि देखते ही हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते।"

"और अपनी नहीं बतायेंगी।" भाभीने हाथ बढ़ाकर कहा—'धोबी मेरा कपड़ा नहीं दे गया, कहाँ तो परसों ही दे जानेको रो रहा था। लो, कंघा भी उसी कमरेमें छोड़ आई—आग लगे ऐसे घरमें। कोई चीज़ ठीक जगहपर रखी हुई पाती ही नहीं। बिन्दीकी शीशी अभी यहाँ रखी थी, न जाने कौन निगल गया। अपने कामकी चीज़ हो या न हो बच्चोंको उससे खेलना। नाकमें दम है।' और भी बीस बातें। रोई पड़ती थीं बीबीजी—अरे हाँ हाँ री! क्या है, क्यों जान खाये जा रही है।" और जीजीकी बात कहती-कहती भाभीने वीराके दोनों हाथ झटक दिये, क्योंकि बिना

उनकी बातोंमें रुचि लिये हुए, वह बार-बार उनका मुँह अपने दोनों हाथोंसे अपनी ओर करके ठिनकती हुई दुहराये जा रही थी—"भाभी केला दिलवाओ एक, बेबीने बंगाली मिठाई खा ली, हम भी लेंगे।"

झिड़की खाकर वह भी अब शेष तीनों बच्चोंके पास चली गई। वे सब नाश्तेकी उसी मेजके चारों ओर घिरे, बाक़ी बची चीज़ोंका हिस्सा बाँट कर रहे थे—"तूने अपने 'कप' में ज्यादा चाय कर ली, इतनी ही हमें भी दे। आप तो दाल मोटकी तश्तरी लेकर अलग बैठ गये, कल हमारे पटाखे माँगने कैसे आ गये थे, तब तो 'आम्में बी दो पताके!' अम्मा देखो इस उमाने चायदानी फोड़ी।"

"अच्छा हल्ला मत मचाओ।" माताजीने उन्हें झिड़ककर कहा—"उनके आते ही सारे घरमें ऐसी भगदड़ मची कि बस क्या बतायें, कोई इधर भाग रहा है, कोई उधर। हमारे तो भाई, बच्चे भी गजबके हैं, घर झाड़ो, साफ़ करो, एक मिनट बाद फिर वही घूरा-सा करके रख दें। लोगोंके यहाँ न जाने कैसे सजे-सजाये घर रहते हैं। और बैठक तो ये समझो, इस कैलाशने (मैंने) झाड़-पोंछ दी थी, कबाड़खाने-सी पड़ी थी, कहाँ बैठाते, कहाँ उठाते?"

मुझे इस समय अपनी बहादुरी जतानी बड़ी आवश्यक लगी, फौरन ही बोला—"बैठक मैंने दोपहरको ही झाड़-पोंछ दी थी। तस्वीरोंके चौखटे साफ़ कर दिये थे, मैंटलपीसपर ये सारे खिलौने ठीक-ठाक रख दिये नहीं तो आनन्द आता।" और मैंने सब खिलौनों-तस्वीरों इत्यादि पर दृष्टिपात किया।

"जीजी, बच्चा।" इस बार जीजीका बच्चा नाश्तेकी चीज़ें खत्म हो जानेपर फिर जीजीके पास आ गया था और खिलौनोंका नाम सुनकर मैंटलपीसपर रखे चीनीके भगवान् बुद्धकी ओर उँगली उठा-उठाकर कह रहा था।

"हाँ बच्चा, जाओ, तुम सब लोग जाओ—बाहर खेलो, देखो सुधीन्द्र भइया आये हैं—बातें करने दो। जाओ, बेबी, विभास, जाओ सब बाहर जाओ, इसे भी ले जाओ।" और जीजी स्वयं उठकर सब बच्चोंको बाहर कर आईं।

"हमने तो समझा था, नीराकी सास कोई बुड्ढी-सी होगी, पुराने खयालोंकी; पर वह तो खूब जवान है। फ़ैशनमें रहती है। उल्टे-पल्लेकी धोती, चश्मा। और लड़केकी भाभी तो फ़ैशनके मारे मरी जा रही थी, देखा नहीं लिपस्टिक कैसी गाढ़ी-गाढ़ी पोत रखी थी, बार-बार पर्स खोलकर रूमाल निकालती, कभी तहकी तह होठोंपर लगाती, कभी माथे-गालोंपर—पाउडर तो बोरी भर लगाया था—मुझे तो बड़ी भद्दी लगी। लड़का सीधा था। छोटा भाई है।" जीजीने बैठते ही बताया।

"और देखा कितना छोटा है, मैट्रिक कर चुका है, और एक ये है कैलाश, ऊँट-का-ऊँट अभी बी० ए० में ही पढ़ता है।" माताजीने कहा।

मैं और सुधीन्द्र भाई चुपचाप बैठे थे। यहाँ कोई किसीकी सुनना ही नहीं चाहता था। एक ही बातको अपने-अपने शब्दोंमें कहनेको सभी उत्सुक। समझ में नहीं आता था किसकी बातको सुना जाय। तभी अचानक बातोंके प्रवाहको पलटनेके लिए मैंने कहा—"आप लोग तो यहाँ बैठी बातें बना रही हैं, नीरजा कहाँ है, उसे भी बुला लीजिए न। सुधीन्द्र भाई आये हैं, न चाय न पानी।"

"वह तो भीतरवाले कमरेमें मुँह ढँके पड़ी है—सिसक रही है। अब बीस बार तो मैं समझा आई हूँ—मानती ही नहीं है।" चाची बोलीं।

"क्यों?" इस बार सुधीन्द्र भाईने अचानक चौंककर मुँह उनकी ओर घुमाया।

"कहती है, मैं शादी नहीं करूँगी, मुझे पढ़ने दो, अभी मेरी इच्छा नहीं है। खूब समझाया कि सभी लड़कियोंकी शादी होती है, तू क्या

अनोखी है, और हमलोग क्या हमेशा ऐसी ही हैं। पर उसने तो न माननेकी जैसी क़सम ही खा ली है।" चाचीने फिर बताया।

"और वहाँ लड़का ज़िद किये बैठा है कि शादी करूँगा तो इसीसे करूँगा—बापसे साफ़ कह दिया है। फोटो देखनेके बाद यहाँ चुपचाप आकर स्कूल जाते हुए देख गया कहीं, बस तभीसे ज़िद किये है। तभी तो ये सब आई थीं देखने।" माताजीने कहा कुछ चिन्तित स्वरमें।

नीरजाके रोनेकी बात सुनकर बातोंका उत्साह मन्द पड़ गया। तभी बाहरसे जीजीका बच्चा फिर उनके पास आ गया—सबके मुँहकी ओर देख-कर धीरे-धीरे बोला—"जीजी वह बच्चा लेंगे।" उसकी निगाह मैंटलपीसपर रखी उस बुद्धमूर्तिपर थी।

"बात क्यों नहीं करने देता। सब बच्चे बाहर खेल रहे हैं और तू यहाँ जमा है!" इस बार उसे माताजीने फटकारा। वह सहमकर चुपचाप खड़ा हो गया, गया नहीं। जीजी उसके सिरपर सांत्वनासे हाथ फेरने लगी। "ज़िद नहीं करते मुन्नी।"

"अब नीरजा बेचारी रोये नहीं तो क्या हो।" मैंने नीरजाका पक्ष लेकर माताजीसे कहा—"आप तो इस बुरी तरह पीछे पड़ जाती हैं। नये आदमियोंके सामने अधिक हठ भी तो नहीं कर सकती, और आप हैं कि उन्हींके सामने ज़ोर दे रही हैं, 'यह दिखाना, वह दिखाना।' सच, सुधीन्द्र भाई, माताजीने नीरजाकी कोई चीज़ ऐसी नहीं छोड़ी जो दिखा न दी हो उन्हें। क्लासमें कराये गये कटाई-सिलाईके कामोंसे लेकर मेज़पोश, स्वेटर—सब। यहाँ तक कि हाईजीनमें बनाये गये शरीरके विभिन्न अङ्गोंके डायग्राम्स तक। अब उन्हींके सामने ज़िद करने लगीं कि 'गाना सुना, गाना सुना,' मुझे सच बड़ा गुस्सा आया।"

"सुनाया उसने ?" सुधीन्द्र भाईने पूछा। दोनों घुटनोंपर अपनी कुहनी रखे, वे धीरे-धीरे अपनी माथेकी सलवटें टटोल रहे थे—बड़े चिन्तित, उदाससे।

"सुनाना पड़ा। सुनाये नहीं तो क्या करे। यहाँ पीछे पड़नेवाले तो ऐसे-ऐसे ज़बर्दस्त हैं, हमारी माताजी, बुआ हैं, चाची हैं।" वास्तवमें मुझे नीरजाको दिखलानेके ढंगपर बड़ा क्रोध आ रहा था।

"अब, भई, ये तो समझते नहीं हैं" माताजीने अपनी सफ़ाई बड़े गम्भीर स्वरमें दी—"लड़कियोंकी शादीका कितना बोझ माँ-बापपर चढ़ा रहता है इसे तो उनकी ही छाती जानती है। तुम्हारा क्या है, तुमने तो उठायी ज़बान और दे मारी। लड़कियाँ तो सब मना किया ही करती हैं। हमने अपनी शादीकी बात सुनी थी तो हम भी रोये थे।"

"नीरजा ऐसी लड़की नहीं है—वह वास्तवमें अभी पढ़ना चाहती है।" मैं अड़ा रहा।

"तो पढ़नेको कौन मना करता है, अब हमारी तरफ़से चाहे ज़िन्दगी भर पढ़ो। क्यों भई सुधीन्द्र ?" माताजीने सुधीन्द्र भाईका समर्थन प्राप्त करनेके लिए उनकी ओर देखा।

पर माथेकी सलवटें उँगलियोंसे टटोलते हुए वे न जाने कबसे क्या सोच रहे थे। जबसे आये थे, उनकी यह उदासी मुझे अखर रही थी। जीजीका बच्चा (उसे प्यारमें वह 'पापा' कहती थी) अब भी भगवान् बोधिसत्त्वकी मूर्तिके लिए हठ कर रहा था। मुझे उसका यह हठ करना बुरा लग रहा था। हम सब लोग बातें कर रहे थे पर उसे जैसे वही धुन। मैं इस मूर्तिको ग्यारह रुपयेमें विशेष रूपसे प्रदर्शनीसे लाया था। वास्तवमें उसकी चीनी बहुत बढ़िया थी। माताजीकी बातपर कोई कुछ नहीं बोला—थोड़ी देर सब चुप रहे। आखिर मुझसे नहीं रहा गया, मैंने पूछ ही

लिया—"क्यों सुधीन्द्र भाई, जबसे तुम आये हो, बहुत उदास और सुस्तसे हो। क्या बात है ?"

"हाँ रे, तू जबसे चुप ही है, सब लोग ऐसे ज़ोर-ज़ोरसे बोल रहे हैं।" माताजीने एकदम इस प्रकार कहा जैसे विषय बदलकर बोल रही हों, पर वह वास्तवमें इतनी देरसे उनकी बातका समर्थन न करनेकी सफ़ाई माँग रही थीं।

"मैं ?" बड़े भर्रायेसे गलेसे उन्होंने कहा, फिर एकदम गला साफ़ करके संयत स्वरमें बोले—"मैं। नहीं कोई ख़ास बात नहीं है।"

"तो भी ?" मैंने पूछा "आपने बताया नहीं नलिनीके यहाँ कैसे हैं—तार क्यों दिया था ?"

"कौन नलिनी ?" जीजीने, धीरेसे पूछा बुआसे, "मुझे तो नहीं मालूम।" कहकर उन्होंने प्रश्न-मुद्रासे चाचीकी ओर देखा; चाचीने माताजीकी ओर।

"सुधीन्द्रकी धर्म-बहिन हैं एक, मुरादाबादमें।" माताजीने बताया, फिर स्वयं जाननेकी इच्छासे सुधीन्द्रकी ओर देखा।

सुधीन्द्र भाई एक ओर मुँह घुमाये दरवाज़ेमेंसे अन्यमनस्कसे बाहर देख रहे थे, उसी प्रकार बिना हिले-डुले उन्होंने कहा, "नलिनी मर गई !"

'झन्न' से जैसे हम लोगोंके बीचमें थाली गिर पड़ी हो। एक-साथ सबके मुँहसे निकला—"नलिनी मर गई ?—कैसे ?" हम बुरी तरह चौंक उठे।

सुधीन्द्र भाई उसी प्रकार अविचलित रहे, एकदम झटकेसे उन्होंने गर्दन घुमाकर माताजीकी ओर मुँह किया—फिर सूनी आँखोंसे देखते हुए बोले—"हाँ, नलिनी कल साढ़े नौ बजे मर गई। तार देकर उसने मुझे बुलाया था।"

"कैसे ?" एक बार सबके मुँहसे निकला। जीजीने माताजीसे पूछा, "क्या उमर थी ?" माताजीने हाथसे उन्हें चुप रहनेका इशारा किया, और मुँहपर सारी उत्सुकता लाकर सुधीन्द्र भाईके मुँहकी ओर देखने लगीं।

"कैसे मर गई ?—जैसे सब मर जाते हैं।" धीरेसे वह हँसे—उनकी हँसी कितनी व्यथाभरी थी, मेरे हृदयमें जाकर जैसे वह ज़ोरसे लरज उठी। उनका सिर झुक गया था। दोनों हाथकी उँगलियोंको एक दूसरेमें फँसा, उन्हें जोड़े हुए वे कुछ क्षण सोचते रहे। एक गहरी साँस छोड़कर उन्होंने झटकेसे सिर उठाया। "कैसे मर गई, एक लम्बी कहानी है। क्या कीजिएगा सुनकर ?"

अब वातावरण एकदम बदल गया था। अभी होनेवाली बहस और आलोचनाएँ न जाने कहाँ चली गईं। सुधीद्र भाईकी उदासीका ऐसा कोई कारण होगा मैंने सोचा भी न था! "क्या उम्र थी ?" जीजीने सीधे ही पूछ लिया।

"उम्र ?—पूरे इक्कीसकी नहीं थी। यह मेरे पास फ़ोटो है।" उन्होंने अचकनके भीतर हाथ डालकर पर्स निकाल लिया और जीजीकी ओर बढ़ा दिया—उसमें एक पासपोर्ट साइज़का फ़ोटो लगा था।

बड़ी उत्सुकतासे जीजीने फ़ोटो लिया—चाची, बुआ, माताजी सभी उसपर झुक गईं। "लड़की बड़ी सुन्दर है! मुँहपर कैसा भोलापन है! आँखें बड़ी प्यारी हैं। सीधी-सी लगती है।" सभीने अपनी-अपनी राय दी। खूब देखनेके बाद जब वह पर्स उन्हें लौटाया गया तो इतमीनानसे देखनेके लिए मैंने ले लिया। लड़की वास्तवमें बड़ी सुन्दर और आकर्षक थी।

"कैसे मर गई ? क्या क़िस्सा है, सुनाओ तो सही ज़रा।" जीजीने आग्रहसे पूछा। सभी लोग इसी आशासे उनकी ओर देख रहे थे।

"क्या करोगी, पूरा क़िस्सा है—लम्बा" सुधीन्द्र भाईने टालना चाहा।

"हमें अब क्या करना है, पूरा सुनाओ, तुम उसे कैसे जानने लगे?" जीजीने पास खड़े अपने पापाके दोनों हाथ पकड़कर कहा, क्योंकि हाथ-पैरोंसे उसकी खिलौना लेनेकी मूक ज़िद जारी थी। मुझे बड़ा बुरा लग रहा था। ऐसे ज़िद्दी बच्चे मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं हैं। मैंने कहा—"पूरा तो सुनाओ—इस पापाको तो सँभालिए जबसे अड़ा हुआ है, यह ज़िद मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं है।"

"नहीं-नहीं अब कहाँ ज़िद कर रहा है?" जीजीने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये थे, लेकिन पैरोंको जमीनपर क्रमसे पटकता हुआ वह मचल रहा था।

बात कहाँसे शुरू करें शायद सुधीन्द्र भाई यही बड़ी गम्भीरतासे सोच रहे थे। लोग सुननेके लिए उत्सुक हैं या नहीं, उन्होंने अपने उदाससे नेत्रोंसे चारों ओर देखा। सिवा उस बच्चेके जो अब डरकर चुप हो गया था किन्तु गया नहीं था, सभी लोग उनकी ओर देख रहे थे। उन्होंने माता जीकी ओर देखकर कहना प्रारम्भ किया—"भाभी जी, जिन दिनों आप बदायूँ थीं न, सन् पैंतीसकी बात है, शायद मैं पिताजीके पास गाँवमें ही था। तभीका क़िस्सा है, लीजिए अब आप नहीं मान रहीं तो सुनिए—शुरूसे बता रहा हूँ। हाँ तो होऊँगा कोई छः सात सालका! तभी शहरसे पिताजीके दोस्त देवनारायण वकील आये उनके पास। पिताजीने बुलाया था। पिकनिकका प्रोग्राम था। तभी मैंने पहिली बार नलिनीको देखा था। बालोंमें रिबन बाँधती थी। रङ्ग-बिरङ्गे फ्राकपर हल्के हरे रङ्गका छोटा-सा चेस्टर पहिने वह बिलकुल गुड़िया-सी लगती थी। मैं लाख जिमींदारका लड़का सही, लेकिन था तो गाँवका ही। गेलिस लगाकर एक ढीला-ढाला हाफ़ पैण्ट और एक कोट पहिने था। उससे बोलनेकी बड़ी इच्छा होती थी, पर संकुचित होकर रह जाता। सुबह छः बजे ही वे लोग कारसे आ गये

थे, वकील साहब भीतर थे, पिताजीसे बातें कर रहे थे। हम दोनों नाश्ता इत्यादि करके बाहर धूपमें दूर-दूर ही घूम रहे थे। शायद सङ्कोच यह था कि कौन पहिले बोले ? हमारे घरके सामने ही थोड़ी-सी जगह छोड़कर आम रास्ता था। उसके दूसरी ओर एक छोटा-सा कच्चा तालाब—पोखर। उसमें आठ-दस बतखें तैर रही थीं, हमलोग थोड़ी देर उन बतखोंको देखते रहे, कभी-कभी कनखियोंसे एक-दूसरेको भी आपसमें देख लेते। अचानक अपने हाथोंको अपनी जेबोंमें और भी अधिक धँसाकर वह बोली, "देखो, कितना जाड़ा है, बतखोंको जाड़ा ही नहीं लग रहा।" मैंने धीरेसे कहा, "ये तो ऐसे ही तैरती रहती हैं।" इसके बाद तो वह मेरे पास आकर दुनिया भरकी बातें करने लगी। उसके बोलनेके बेझिझक ढंगको देखकर तभी मैं चकित रह गया। दुनिया भरकी तो उसे बातें याद थीं, और बड़ी बातूनी। उसने सब बताया, जिस स्कूलमें वह पढ़ती है, उसमें कौन टीचर अच्छी हैं, कौन बुरी, किस-किस लड़कीसे उसकी अधिक मित्रता है। जिस बसमें वह जाती है उसका नम्बर क्या है। खैर उस दिन उसने खूब बातें कीं। मैं बिलकुल चुप रहा क्योंकि मेरे पास कुछ भी नहीं था। फिर भी हम दो दिनोंमें खूब घुल-मिल गये थे। कैरम वह बड़ा अच्छा खेलती थी। और ताश, लूडो, स्नेकलैडर, ट्रेड, ओम्नीबस न जाने क्या-क्या तो वह खेल लेती थी। खैर, पिकनिकके पश्चात् जब वे लोग चले गये तो अचानक मुझे लगा जैसे दुनियामें कोई काम करनेको ही नहीं रह गया है। फिर तो जब भी पिताजीके साथ शहर जाते उनके यहाँ ज़रूर जाते। लेकिन थोड़े दिन घर रहकर वह अपने किसी सम्बन्धीके यहाँ चली गई।"

"मेरी पढ़ाई चलती रही।" सुधीन्द्र भाई कुछ रुके। तभी मैंने देखा, धीरे-धीरे कुनमुनाता हुआ पापा रह-रहकर जीजीको नोचता हुआ अपनी ज़िदको चालू रखे हुए है। अदम्य इच्छा हुई, ज़ोरसे एक चाँटा मारकर धकेल दूँ। न बातें करने देता है, न कुछ सुनता है। बड़े लाड़ले आये।

पर जैसे-तैसे अपनी इस इच्छाको दबाया। निश्चय कर लिया कि इसबार इसने बातोंमें ज़रा भी विघ्न डाला तो कान पकड़कर बाहर निकाल दूँगा, फिर चाहे जीजी बकती ही रहें।

"मैट्रिक कर लेनेके पश्चात् वकील साहब और पिताजीमें यह एक अच्छा खासा विवाद उठ खड़ा हुआ कि पढ़ाई जारी रखनेके लिए मैं हॉस्टलमें रहूँ या वकील साहबके यहाँ। पिताजी हॉस्टलके पीछे पड़े हुए थे क्योंकि दो-चार महीनेकी बात होती तो कुछ नहीं था। खैर, मैं यहाँ हॉस्टलमें आया। वकील साहबने आज्ञा दे दी कि दिनमें एक बार यहाँ ज़रूर आओगे। हॉस्टलमें अच्छी तरह जम लेनेके बाद मैं वकील साहबके यहाँ जाने लगा। एकाध घण्टा बैठता और चला आता। वकीलनी (जिन्हें मैं चाची कहता था) और वकील साहबसे ही बातें करता था। बातोंमें वह नलिनीकी तारीफ़ करते। हमारी नलिनी ऐसी है, वैसी है, यों पढ़नेमें तेज़ है, यों खेलनेमें होशियार है। एकाध बार तो मैंने सुना, फिर तो मुझे झुँझलाहट आने लगी। क्योंकि उसकी प्रशंसा करते वह थकते नहीं थे और मुझे लगता था जैसे उनके कहनेका बस इतना ही मतलब है—तुम चाहे जितने होशियार हो, नलिनी तुमसे लाख दर्जे इंटलिजेंट है। अक्सर वह पूछते, कुछ तकलीफ़ तो नहीं है। रोज़ ही कुछ न कुछ खिला देते। मैंने वहाँ सैकेन्ड-इयर किया, और छुट्टियोंके पश्चात् जब मैं वहाँ गया तो बताया गया कि नलिनी अब वहीं आ गई है। मैट्रिकमें फ़र्स्ट पास हुई है, सैकेंड पोजीशन है। यहीं पढ़ेगी। कभी-कभी मैं उसके विषयमें सोचा करता, न जाने कैसी होगी। हमलोग सन् छत्तीसमें मिले थे और अब था पैंतालीस। नौ-दस वर्षका अन्तर बहुत होता है। तभी वकील साहबने उसे बुलाया, "चाय ले आओ नलिनी।" और नलिनी चायकी ट्रे लेकर आई। मैं बुरी तरह चौंक गया, पहिली जो धुँधली नलिनी मेरे मानस-पटलपर थी उसकी इससे कोई तुलना नहीं थी। मैंने नमस्कार किया। नलिनीने चायका ट्रे रखकर नम-

स्कारका उत्तर दिया मुस्कुराकर। और बेझिझक वकील साहबके पास बैठ गई।

"भाई साहब, फ़र्स्ट डिवीज़नमें पास होनेकी मिठाई तो खिलवाइए।" मैं चकित रह गया, लाख बचपनमें मिले सही लेकिन मैं तो एकदम किसी लड़केसे भी इस तरह नहीं बोल सकता। फिर वह तो पन्द्रह वर्षकी एक लड़की थी जो धोतीमें सिमटी-सिमटाई-सी अपनेमें ही लीन हो जानेकी चेष्टा किया करती है। पर न तो उसकी वाणीमें, न व्यवहारमें, किसी प्रकारकी झिझक, सङ्कोच या लज्जा मुझे लगी, इसके विपरीत मैं स्वयं ही सोचमें था कि क्या उत्तर उसे दूँ। चाय बन गई थी तभी अपना कप उठाकर वकील साहबने कहा—"तुम तो इसे भूल-भाल गये होगे। यह तो वही नलिनी है जो तुम्हारे यहाँ गई थी, यह चुड़ैल कुछ भी नहीं भूलती—न मालूम बचपनसे ही ऐसी याददाश्त लेकर पैदा हुई है। छोटी-से-छोटी बात सब इसे याद है।"

"इन्हें क्यों याद होगा—हारते थे न, जिस खेलको देखो उसीमें गोल रखे थे। मिठाई चाहे जब खिलवाइए, लेकिन चाय क्यों ठण्डी किये डालते हैं?" और वह कुटिलतासे मुसकराकर कपपर झुक गई। मैं उसकी ओर सीधा देखनेका साहस नहीं कर सका। इधर-उधर भागती दृष्टिको समेटकर उस ओर लानेकी चेष्टा करता, पर जैसे वह वहाँ पहुँचकर किसी शक्तिसे छिटक उठती! उसके इस उत्तरपर भी मैं कुछ नहीं बोला।

"भाई साहब! आप तो बहुत ही शर्माते हैं।" उसने फिर कोंचा। इस बार मेरा सारा सङ्कोच जैसे इस वाक्यकी प्रतिक्रियासे क्षोभ बन उठा। बड़ी असभ्य लड़की है, मनमें सोचा, जबसे आई है कुछ-न-कुछ बोले ही जा रही है। जब मैं नहीं बोलना चाहता तो मेरे पीछे क्यों पड़ी है? मैंने कहा—"आप तो मुझसे अच्छी तरह पास हुई हैं, आप पहिले खिलाइए न।"

"या तो बिल्कुल ही नहीं बोल रहे थे, और अब बोले तो ऐसी शिष्टता से बोले कि छोटे-बड़े सबका ध्यान भुला दिया।" जल्दीसे चायकी घूँटको घूँटकर वह हँस पड़ी। हाथका कप काँप गया और चाय छलक गई। वकील साहब इस सारे वातावरणका आनन्द ले रहे थे। बनावटी क्रोधसे बोले—'क्या कर रही है? तमीज़से बात कर। सारे कपड़े खराब किये लेती है।' मुझे वकील साहबपर क्रोध आ रहा था। यह तो नहीं कि ठीकसे डाटें, तभी तो इतनी बेशर्म हो गई है। लड़कियोंके इतने निर्लज्ज होनेके मैं खिलाफ़ हूँ। यही चीज़ तो उनमें अन्य चारित्रिक दुर्बलताओंको जन्म देती है... और भी मैंने उसके विषयमें न जाने क्या-क्या उलटा-सीधा सोच डाला। बातोंका उत्तर तो मैंने उस समय दिया, पर मुझे उसका बेझिझकपन अधिक पसन्द नहीं आया, और वकील साहब थे कि अपनी बेटीकी इस बहादुरीपर फूले पड़ते थे। माँ-बाप ऐसा लाड़-प्यार करते हैं तभी तो लड़कियाँ बिगड़ जाती हैं। सामने तो बड़ी इतराती रहेगी...और सैकड़ों सिनेमा-उपन्यासोंके दृश्य उस समय मेरे सामने आये। जब वही इतनी बेशरम है तो मैं ही क्यों हयादार बना रहूँ—सोचकर मैंने सारा सङ्कोच छोड़ दिया। उसकी ओर देखा, वह सुन्दर थी पर स्त्रियोंमें एक स्वाभाविक लज्जा, हलका-सा संकोच रहता है, वह असुन्दरको तो सुन्दर बनाता ही है; वह जैसे सुन्दर पर भी कलई कर देता है—पर वहाँ कुछ नहीं, वही सपाट मुँह। हाथमें केवल दो सोने की चूड़ियाँ। ऊपरसे नीचे तक कुछ नहीं। उल्टे पल्लेकी धोती, सो भी कन्धे पर झूल रही थी—नये आदमीके सामने जाते हैं तो थोड़ा सिर पर रख लेते हैं। मैं सोचने लगा इस लड़कीको इतना निर्लज्ज बना देने में इसके इस सौन्दर्यका कितना हाथ है। जब चलने लगा तो बोली—"देखिए भाई साहब, मुझे इस बार तीन इम्तहान देने हैं। कॉलिजमें इन्टरका तो है ही, एक विशारद और दूसरा संगीतका। कहिए कैसा रहेगा?"

"बड़ा अच्छा रहेगा।" कहा, पर सोचा, शायद यह दिखाना चाहती है कि मैं कितनी पढ़ाकू हूँ।

"संगीतके लिए हमने एक ट्यूटर लगा लिया है, सत्तर रुपये लेगा। विशारद हमें आप करायेंगे।" उसने एक बार वकील साहबकी ओर देखा। मैं इस अप्रत्याशित बोझसे जैसे अचकचा उठा। वकील साहब बोले—"हाँ दिलवा दो भई। पास तो यह हो ही जायेगी, लेकिन तुम तैयारी करा दोगे तो ज़रा अच्छी तरह पास हो जायेगी। हिन्दीके तुम विद्वान् भी हो, सब जानते हो। ठीक रहेगा। सन्ध्याको चाय यहीं पिया करो।"

"हाँ-हाँ।" करके मैंने स्वीकृति दी। उस समय तो मुझे यह विश्वास हो गया था, इस लड़कीको अपने सौन्दर्यका गर्व है। इसीलिए यह इतनी निर्लज्ज है। उसे गर्व है तो रहा करे—गर्व करनेवालोंके लिए यहाँ भी गर्व कम नहीं है। दो-एक दिन तो पढ़ाऊँगा, ठीकसे पढ़ी तो ठीक है, ज़रा भी तीन-पाँच की तो उसी दिन छोड़ दूँगा, कोई बहाना बना दूँगा। ज्यादासे-ज्यादा वकील साहब बुरा ही तो मानेंगे। इस क्षोभ और द्वन्द्वके भीतर कभी मुझे लगता जैसे कोई बड़े मृदुल स्वरमें पूछता—"किन्तु यह नलिनी है कैसी लड़की?" खैर उस दिन, दिन भर मैंने उसके विषयमें जो भी सोचा वह अधिक अच्छा नहीं था।

"और सन्ध्याके समय मैं उसके पास जाने लगा, उसे पढ़ाने। भाभीजी, जब आज भी उन बातोंको सोचता हूँ तो शर्मसे गर्दन झुक जाती है। किसीके विषयमें इतनी जल्दी सम्मति बना लेना कितना खराब है। सच कहता हूँ, उस जैसी बुद्धिवाली लड़की मैंने ज़िन्दगीमें एक भी नहीं देखी। ओफ़! क्या दिमाग़ पाया था उसने। किसी भी बातको एक बार समझा दो, कमसे-कम इस ज़िन्दगीमें दूसरी बार समझानेकी ज़रूरत ही नहीं। कभी कापीमें मीनिंग या नोट्स नहीं लेती थी। और इतनी सुन्दर

लिखाई कि क्या कहूँ। एक किताब पढ़ लेती तो शब्द-प्रतिशब्द वह उसे महीनों याद रहती। बहुतसे स्थानोंपर वह मुझे पढ़ाती थी या मैं उसे, यह मैं आज तक नहीं जान पाया। मैं उसे बड़े ध्यान और गम्भीरतासे पढ़ाता और वह बड़े आनन्दसे पेन्सिलसे खेलती या पेनसे नाखून रँगा करती। मैं झुँझलाकर एकदम पूछ बैठता, "बताओ मैंने क्या बताया?" और वह मेरा प्रत्येक शब्द दोहरा देती। मैं आश्चर्य करता यह लड़की है या आफ़त! पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, और भी न जाने कितने कवियोंकी सैकड़ों कविताएँ उसे याद। उसके निबन्ध देखकर उसके मनन-पर सिर खुजाना पड़ता था। उसकी कहानियाँ देखकर आँखें फटी रह जाती थीं। मैंने उसे तीन वर्ष पढ़ाया। इस बीचमें उसकी प्रत्येक अच्छी-बुरी बात देखनेका मौक़ा मुझे मिला। अब इसे आप चाहे जो कुछ भी कहिए—मेरी दुर्बलता या बुद्धिमानी—मैं उसकी एक-एक बातका भक्त बन गया।" कहकर सुधीन्द्र भाई कुछ देरके लिए रुके कि उनकी यह प्रशंसा अति पर तो नहीं पहुँच गई है। माताजी की ओर देखकर उन्होंने खिलौना लेनेके लिए अपनी मूक ज़िद ज़ारी रखते पापाको शून्य आँखों से देखा। फिर कहा—"भाभी जी, आप सोचेंगी मैं व्यर्थ ही उसकी इतनी प्रशंसा करके उसे आसमान पर क्यों रखे दे रहा हूँ। लेकिन मुझे वास्तवमें ऐसा लगता है उसकी पूरी बात कह ही नहीं पा रहा हूँ। खैर तब मैंने जाना कि क्यों यह लड़की निडर, निर्भीक और बेझिझक है, क्योंकि उसके हृदयमें भय, कलुप, या उलझन नहीं है। वह उन लड़कियोंमें से नहीं है जो मनमें हज़ार उल्टी-सीधी बातें रखते हुए भी ऊपरसे अपनेको बिल्कुल निर्लिप्त दिखाया करती हैं। और उसके स्वभावकी वह सबलता, वाणीकी तीव्रता, मुक्त हास्यकी चंचलता उसके रूप-गर्वके प्रतीक नहीं हैं, वरन् वह उसकी प्रखर प्रतिभाका प्रचण्ड विस्फोट है, जो उसके व्यक्तित्वके इन सब रूपोंमें दिखाई देता है।"

"तो ऐसी वह लड़की थी।" सुधीन्द्र भाई ने फिर बोलना प्रारम्भ किया, "मैं उसे पढ़ाता था किन्तु इस बातका निश्चय मुझे हो गया कि यह केवल संयोग है, जो मैं उससे पहिलेसे पढ़ते होनेके कारण उससे आगे हूँ और उसे पढ़ा रहा हूँ, नहीं तो इसे स्वीकार करनेमें मुझे कोई झिझक नहीं कि वह मुझसे कई गुनी अधिक बुद्धिमान्, प्रतिभा-शालिनी थी। सबसे बड़ी बात जो मैंने उसमें नई देखी वह यह कि किसी की अप्रत्याशित बातसे एकदम प्रभावित नहीं होती थी, इसीलिए प्रायः वह भावुक नहीं थी। जब मैं उसकी उन बेझिझक खुली आँखोंमें देखता तो लगता न मालूम कितने गहरे खुले आकाशको मैं देख रहा हूँ, जिसका कहीं भी ओर-छोर नहीं है। मुझे निश्चय हो गया कि यह लड़की किसी दिन सारे देशको अपनी विलक्षण प्रतिभासे चकित कर देगी।"

"खैर, मैं उसे पढ़ाता रहा। एक दिन उन चाचीने बताया कि अपने जिन सम्बन्धीके यहाँ वह पहिले 'मैट्रिक' तक पढ़ने को रही थी, उनका पत्र आया है। उन्होंने लिखा है कि नलिनीके लिए लड़का उन्होंने ठीक कर लिया है, लेकिन नलिनीने स्पष्ट कह दिया कि उसका विचार अभी शादी करनेका क़तई नहीं है। अभी वह थर्ड ईयरमें ही पढ़ती है; कम-से-कम एम० ए० तक वह इस विषयपर सोचेगी भी नहीं। फिर दूसरा पत्र आया—वह लड़का इसी मुहल्लेका है, हमारी ही जातिका है, पिछले आठ-दस सालसे मैं उसे देख रही हूँ—बड़ा सुशील और सीधा लड़का है। उसीने नलिनीको मैट्रिकके लिए इङ्गलिश पढ़ाई थी—नलिनी भी उसे जानती है। घर काफ़ी सम्पन्न है—वह सुखी रहेगी, पास रहेगी। लेकिन नलिनी भी एक नम्बर की ज़िद्दी लड़की—एक नहीं मानी। फिर तीसरा पत्र आया—उस लड़केने नलिनीमें पता नहीं क्या देखा है कि अपने बापसे स्पष्ट कह दिया है कि शादी करूँगा तो इसी लड़कीसे, नहीं तो बिलकुल नहीं। इसी विषयमें वे मुझसे सलाह लेने आई थीं कि अब क्या

करें ? नलिनी पास बैठी सब सुन रही थी। मैं कुछ राय ज़ाहिर करूँ इससे पहिले वह स्वयं बोली—"पता नहीं क्यों लड़कोंको शादी करनेकी ऐसी जल्दी पड़ती है। लाइए मैं उन्हें लिख दूँ सीधा, कि मैं आपसे शादी नहीं करना चाहती।" मैंने उसकी ओर देखा, शायद वह मज़ाकमें कह रही हो, पर उस समय वह काफ़ी गम्भीर थी। मैं उस ओर देख नहीं सका। वकीलनीने कहा, "समझाओ इसे।" यद्यपि मन-ही-मन मैंने स्वीकार किया कि बात ठीक है; जब वह पढ़ना चाहती है तो उसे पढ़ने देना चाहिए। तो भी मैंने यों ही कहा—'जब वह इतना हठ पकड़ रहा है तो मान जाओ न, कर-करा लो उसीसे शादी।"

"उसने मुझे ठीक इस तरहसे देखा, जैसे किसी बच्चेको देखती हो और वह झिड़ककर बोली—'आप भी क्या बात करते हैं भाई साहब, बच्चों-जैसी। अब अचानक मैं ही आपसे कहने लगूँ कि मुझसे शादी कर लीजिए, तो कैसे हो सकता है। न मैंने उन्हें कभी इस दृष्टिसे देखा, न मेरे मनमें कभी ऐसी बात आई।' उसके मुखपर उत्तेजना थी। उसका मुख-मण्डल प्रदीप्त था।

"मुझे हँसी आई,—कैसी मूर्खताकी उपमा इसने दी है। कहा—'न सोचा न सही, तब भी इसमें हर्ज क्या है?'

'हर्ज क्या है?' उसने बच्चोंकी तरह मुँह बिरा दिया—"हर्ज है कैसे नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। मैंने उन्हें सदैव गुरुकी भाँति पूजा और भाई की पवित्र दृष्टिसे देखा है। जिस तरह आप हम लोगोंमें काफ़ी घुल-मिल गये हैं न, ठीक वैसे ही उनकी बात है वहाँ। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि एक दिन वे इस प्रकार हठ करके बैठ जायेंगे कि मैं शादी करूँगा तो इस नलिनीसे ही करूँगा।" वह थोड़ी देर चुप रही, फिर जैसे स्वयं ही सोचती-सोचती बोली—"हिश्, मैं नहीं करूँगी शादी-वादी।"

"खैर, मैं चुप रहा। दो-तीन दिन फिर उसी स्वाभाविकतासे कटे। एक दिन गया तो पता चला कि उसके वही चाचाजी आये हुए हैं। उस दिन नलिनी बड़ी चिन्तित-उदास थी। उसने बताया, 'आज रात-भर मैं ठीकसे नहीं सो पाई। चाचाजी आये हैं, बता रहे हैं कि लड़केको भी जिद आ गई है कि शादी बस नलिनीसे होगी। उसने तीन-चार दिनसे अनशन कर रखा है। जब मैं शादी नहीं करना चाहती तो क्यों ये लोग मुझे विवश कर रहे हैं कि मैं शादी करूँ ही। अब आप ही बताइए मैं क्या करूँ? चाचाजी इसीलिए आये हैं, ये लोग किसीका आत्मविकास होते नहीं देख सकते। मैं बुद्धिमान् हूँ, मैं प्रतिभाशील हूँ, मैं सुरीला गाती हूँ, सुन्दर बजाती हूँ और सौन्दर्यशालिनी हूँ,—फिर? कहिए, आपको इन सब बातोंसे क्या मतलब? आपको यह कैसे विश्वास हो गया कि मैंने यह सब चीज़ें आप के ही लिए सहेज कर रखी हैं। इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है? अजब आफ़त है।' और क्रोध अथवा घृणासे उसने अपना निचला ओंठ ज़ोरसे चबाया। मैं चुपचाप देखता रहा। उसके वाक्यमें सत्यकी ज्वालाएँ थीं। लेकिन मैं, उस समय, क्या कर सकता हूँ—समझमें नहीं आता था। उसे समझाया "शादी तो नलिनी तुम्हें करनी ही है। अब नहीं तो वर्ष बाद। फिर तुम्हें अब ही ऐसी क्या आपत्ति है?"

'तो आपको ऐसा अधिकार किसने दे दिया कि आपने तो मुझे देखा, और खटसे मचल पड़े; अनशन कर दिया कि मैं तो इसीसे विवाह करूँगा—और हम सोच भी नहीं पाये कि सारे घरवाले चील-कौवोंकी तरह नोंचने-खोंचने लगे—कर इसीसे, कर इसीसे।' उसकी आँखोंमें, पहिली बार मैंने देखा आँसू आ गये थे, जिन्हें वह एक घूँट-भरके पी गई, फिर बोली—'भाई साहब, आप तो समझेंगे, मैं और लड़कियोंकी तरह बहाने-बाजी कर रही हूँ पर मैं हृदयसे कह रही हूँ, मुझे शादी करनेकी इच्छा ही नहीं है।' वह चुपचाप कुछ सोचती रही, फिर बोली—'चाचाजी ने मुझे

रातको कोई दो घण्टे लेक्चर पिलाया, नाश्तेके समय सुबह समझाया और अभी बाहर गये हैं। आकर फिर भाषण देंगे—माताजी, बाबूजी—सभी मेरे पीछे पड़े हैं। अब आप भी......मैं क्या करूँ भाई साहब, इससे अच्छा तो मैं कहीं मर जाती।' उसकी इस अन्तिम बातसे अचानक मैं चौंक गया। यह उसके मुँहसे निकला हुआ पहिला वाक्य था जो उसने जैसे व्यथासे तड़पकर कहा था। मैं स्वयं भी उन दिनों काफ़ी उद्विग्न, बेचैन, व्यथित रहा था। मेरी स्थिति बड़ी विचित्र थी, यदि मैं शादीका विरोध करता तो वे लोग मेरे और नलिनीके विषयमें न जाने क्या-क्या सोचते। पर फिर भी, बार-बार जैसे कोई ललकारकर पूछता—'क्या मैं उसके लिए कुछ नहीं कर सकता?—क्या नहीं कर सकता कुछ?' और यह प्रश्न ही धमककर ध्वनि-प्रतिध्वनिके रूपमें व्याप्त हो जाता कि उसके उत्तरके विषयमें मैं सोच ही नहीं पाता था। बड़ा खिंचाव शिराओंमें था। मैंने दुःखी स्वरमें कहा—'क्या बताऊँ नलिनी, मैं स्वयं भी कोई राह नहीं सोच पाता! तुम्हारी प्रतिभाका मैं शुरूसे ही कायल हूँ। मेरा विश्वास था कि यदि यों ही तुम्हारा स्वाभाविक विकास होता गया, तो तुम एक दिन अपनी प्रतिभासे संसारको चकाचौंध कर दोगी। पर अब......"

अचानक सुधीन्द्र भाई अपनी बात कहते-कहते रुक गये, क्योंकि मैंने आगे बढ़कर उस ज़िद्दी पापाके दोनों क़ान पकड़ लिये थे। गुस्सा तो ऐसा आ रहा था कि दो मारूँ तान कर चाँटे—तबियत ठिकाने आ जाय। बड़े लाड़ले बने हैं, जबसे मना कर रहे हैं कि मान जा, मान जा, तो समझमें ही नहीं आता। सब बच्चे बाहर खड़े हैं और ये बेचारे यहाँ खड़े हैं, अकेले, यहाँ खिलौना लेनेको। ले खिलौना, अब तुझे कैसा खिलौना देता हूँ। दोनों कान खिंचते ही पापा ज़ोरसे चीखा, एक बार उसने मेरी क्रुद्ध सूरत देखी और जीजीका पल्ला पकड़ लिया।

"अरे क्या कर रहा है रे..." माताजी चिल्लाईं—"क्यों उसके कान उखाड़े ले रहा है ?" मैं उसके कान यों ही खींचे-खींचे बाहर ले चला।

"हाँ ले जा, ले जा, जबसे समझा रहे हैं तो मानता ही नहीं है!" जीजीने बनावटी गुस्सेसे कहा; वास्तवमें उन्हें मेरा यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा था। जिद करता हुआ पापा बुरा माताजीको भी लग रहा था, पर जीजीकी ओर देखकर वे एक दम उठीं, पापाकी बाँह पकड़कर मुझे एक ओर धक्का दे दिया। "मानता ही नहीं है।" पापाको उन्होंने गोदमें उठा लिया—"भैया जिद नहीं करते।"

मुट्ठी बनाकर आँखोंको मलते हुए उसने सिसक-सिसककर मूर्तिकी ओर एक हाथ बढ़ाकर कहा—"अम्मा, वो लेंगे।"

"अच्छा ले।" माताजी उसे उठाये-उठाये मेंटलपीसके पास गईं और वहाँसे गेरुए रंगकी चमकदार चीनीकी बनी वह मूर्ति उसे दे दी। उसने दोनों हाथसे कसकर पकड़ लिया।

मैं भुनभुनाया, "उसका क्या है, वह तो ज़रा-सी देरमें तोड़ देगा। ग्यारह रुपयेकी एक मूर्ति लाया हूँ—सो भी अब मिलती नहीं है—ऐसी सुन्दर और गढ़ी हुई।"

"हाँ-हाँ नहीं तोड़ेगा।" माताजीने कहा—"हम दे देंगे पैसे, दूसरी ले आना।" फिर उन्होंने पापाको जीजीके पास बैठा दिया फर्शपर ही! जीजीने उसे समझाया—"हाँ भैया, तोड़ियो नहीं।"

"अब मिली जाती है दूसरी!" मैं मन ही मन दाँत पीसकर रह गया। चुप रह गया यह सोचकर सुधीन्द्र भाई न जाने क्या सोचेंगे, उनकी बात सुनते-सुनते ऐसा बखेड़ा मचा दिया। उसकी ओर एकाध बार देखकर

उनकी बातके प्रति उत्सुकता दिखाई—"हाँ फिर क्या हुआ ?" पापा मूर्तिको फर्शपर रखकर खेल रहा था—कभी इधरसे झाँककर देखता, कभी उधरसे।

सुधीन्द्र भाई बड़ी विचित्र-सी दृष्टिसे यह सब देख रहे थे। हो सकता है उन्हें बुरा न लग रहा हो, पर उन्हें विशेष अच्छा भी न लग रहा था—मैंने तत्काल अनुभव किया। इसीलिए ऐसा भाव दिखाया जैसे कुछ हुआ ही नहीं—हमने अधिकसे अधिक अपना ध्यान उनकी ओर केन्द्रित कर दिया।

"हाँ तो दूसरे दिन जब मैं गया तो चाचीजी बड़ी दुखी-सी आईं—'तुम्हीं बताओ सुधीन्द्र, मैं क्या करूँ ? उसे लाख समझाया। मैंने समझाया, तुम्हारे वकील साहबने, लालाजी ने; लेकिन वह तो एक ही रट लगाये है–मैं तो पढ़ूँगी—मैं तो पढ़ूँगी। लड़का कहता है तुम जिन्दगी-भर पढ़ोगी तो मैं जिन्दगी-भर पढ़ाऊँगा, अपना घर-बार सब बेंचकर पढ़ाऊँगा। जो तेरी इच्छा हो सो कर, पर वह मानती ही नहीं है।' 'कहाँ है ?' मैंने पूछा। बताया, 'भीतर पड़ी है पलंगपर, न खाती है, न नहाती है। बस रोये जा रही है, अब हमारी तबियत तो इससे बड़ी हलकान होती है। इतनी बड़ी हो गई, आज तक नहीं रोई और अब...तुम्हीं समझाओ।' मैंने पूछा, 'चाचाजी गये ?' उन्होंने जिस ढंगसे हाँ कहा मैं कुछ-कुछ समझ गया। कुछ नहीं कहा। चुप भीतर गया। कमरेमें पलंगपर वह चुपचाप औंधी पड़ी थी—रह-रहकर उसका सारा शरीर काँप उठता था। मैं कुछ देर चुप रहा, फिर पुकारा—'नलिनी, नलिनी।' उसने कुछ नहीं कहा। मैं उसके पास ही पलंगपर बैठ गया। दोनों कन्धे पकड़कर उसे सीधा किया—देखा, वह रो रही थी। उसके खिले गुलाबसे चेहरेको जैसे पाला मार गया था, सारा मुँह उसका लाल हो गया था, और आँखें बीरबहूटीके सुर्ख रंगकी तरह जल रही थीं। उस समय एक क्षणको भाभीजी, सच मुझे

ऐसा लगा कि इस दहकते चेहरेके लिए मैं क्या न कर दूँ। किस आसमानके नीले और मनहूस पर्दोंको चीर दूँ जो उसपर अपनी काली छाया डाले हैं और कौन-सा पहाड़ है जिसे उठाकर फेंक दूँ, जो इसका रास्ता रोके हुए है। उस समय मुझे अपनी बाहोंमें वज्र-जैसी शक्ति लहरें लेती अनुभव हुई। मैंने उसका सिर लेकर अपनी गोदमें रख लिया—बाल उसके चेहरेपर फैल आये थे उन्हें एक हाथसे इधर-उधर कर दिया। बड़े दुखीसे स्वरमें कहा—'नलिनी ऐसे क्यों रो रही हो?' उसका रोना बन्द हो गया था, केवल कभी-कभी एक हिचकीसे उसका सारा शरीर सूखे पत्तेकी लड़खड़ाहटकी भाँति काँप उठता था। मेरी समझमें नहीं आता था मैं क्या कहकर उसे सान्त्वना दूँ। फिर कहा—'नलिनी, रोओ मत।' लेकिन नलिनीकी इतनी देरसे संचित रुलाई फिर फूट पड़ी और वह फिर बुरी तरह रो उठी। मेरा कण्ठ स्वयं भीग गया था और आँखोंमें आँसू बड़ी मुश्किलसे रुक पा रहे थे। फिर भी मैंने उसे समझाया—'नलिनी जो हो गया सो हो गया। वह तुम्हें विश्वास दिलाता है कि पढ़ने इत्यादि की पूरी सुविधा देगा। क्यों व्यर्थ रो-रोकर अपना स्वास्थ्य खराब करती हो।' लेकिन जैसे वह कुछ सुन ही नहीं रही थी। उसे तो इस समय जैसे रुलाईका दौरा आ गया था—बस रोये जा रही थी। उस दिन मैं भी रोया। लेकिन उस दिनके बादसे उसके शरीरकी स्फूर्ति, उसके चेहरेकी उत्फुल्लता, उसकी भोली आँखोंका उल्लास जैसे किसीने मन्त्रके ज़ोरसे खींचकर फेंक दिये और वह एक साधारण कंकाल मात्र थी—निस्तेज और उदास। किसी ओर देखती तो बस देखती रहती।

"और पिछले साल उसका विवाह हो गया। ज़िन्दगीमें शायद दूसरी बार वह जी खोलकर रोई। उस दिन उसने मुझसे कहा—'बस भाई साहब, अब नहीं रोऊँगी, क्योंकि जो चीज़ मेरे पास असाधारण थी, जिसका मुझे गर्व था और जिससे मुझे इतना मोह था—अब सदाके लिए उसकी चाह

छोड़ दी है। बस, अब मैं एक साधारण लड़की हूँ—दुर्बल और कमज़ोर'।"

वह ससुराल चली गई। थोड़े दिन बाद आई। जब मैंने फ़ाइनलकी परीक्षा दी तभी उसने बी० ए० की परीक्षा दी—जैसे बिल्कुल निरुत्साहित और निर्लिप्त होकर। आपको आश्चर्य होगा, तो भी बी० ए० में उसने टॉप किया। विभिन्न पत्रोंमें जब उसके चित्र छपे, और उसने देखे तो मुझे लगा उसका वह उन्मुक्त उल्लास फिर उसे कुछ समयको मिल गया है। बहुत प्रसन्न होकर उसने कहा—'भाई साहब, चाहे कोई कितना ही विरोध क्यों न करे, मैं तो खूब पढ़ूँगी।'पर तभी फिर अचानक कुछ क्षणको उदास हो गई। उन दिनों उसने संगीतका अभ्यास खूब बढ़ा लिया था। रोज़ मुझे कुछ-न-कुछ सुनाती—उन दिनों वह बड़ी प्रसन्न रही। ओफ़, कितना सुन्दर वह गाती थी! आज तक मैं निश्चय नहीं कर पाया कि उसकी प्रतिभा संगीतमें अधिक अभिव्यक्त होती थी या लेखनमें। उन दिनों उसने कुछ सुन्दर निबन्ध और कहानियाँ लिखीं। छुट्टियों भर इस बातपर बहस होती रही कि वह एम० ए० कहाँ 'जॉइन' करे। ससुराल वालोंके पत्र आते कि बनारस ही सबसे अधिक ठीक रहेगा और वह कहती कि मैं तो यहीं पढ़ूँगी। एक दिन वहम हाशय स्वयं आ धमके लेनेके लिए। वे आकर हठ पकड़ गये कि लेकर जाऊँगा तो अभी, नहीं तो आप अपनी लड़कीको रखिए, फिर मेरे यहाँ भेजनेकी ज़रूरत नहीं है। हम लोगोंने लाख समझाया कि वह बी० ए० में ऐसी अच्छी तरह पास हुई है, और उसकी ऐसी उत्कट लालसा है कि आगे पढ़े तो क्यों न पढ़ने दिया जाय। वे बोले, पढ़नेका इन्तज़ाम क्या वहाँ नहीं है। बनारस यूनिवर्सिटीमें वह बड़े आरामसे पढ़ सकती है। खैर, वे महाशय उसे लेकर ही टले, बस, वही मेरी और उसकी अन्तिम भेंट थी। एम० ए० वह जॉइन नहीं कर सकी। लिखा, 'यहाँसे आकर इनकी तबियत खराब हो गई है। मैं रात-रात

भर जागकर भगवान्‌से मनाती हूँ कि ये ठीक हो जायें तो कॉलेज 'जॉइन' करूँ—एडमीशनकी तारीखें निकली जा रही हैं।' लेकिन वह सज्जन तो शायद प्रण करके ही बीमार हुए थे कि दो महीनेसे पहले ठीक ही नहीं होंगे। सो वह एडमीशन ले ही नहीं पाई। उसने लिखा, 'भाई साहब, कभी-कभी तो इच्छा होती है पड़ा रहने दूँ बीमार और जाने लगूँ पढ़ने। पर सोचती हूँ ये लोग मुझे खा जायेंगी।' इसके बाद और भी, समय-समय पर पत्र आते रहे, उन सबमें जो कुछ लिखा था, उसका तात्पर्य था, 'भाई साहब, मैं क्या करूँ, यह मेरी समझमें नहीं आता। यहाँ कोई काम मुझे करनेको नहीं है, दिन-रात यह बात जोंककी तरह मेरा खून सुखाये देती है कि जिस प्रतिभाकी आप यों तारीफ़ करते नहीं अघाते थे, जिस बुद्धिपर मुझे गर्व था, जिस सौन्दर्यसे मेरी सहेलियाँ ईर्ष्या करती थीं, मेरे जिस संगीतपर बाबूजी झूम आते थे, जिस शैलीपर लोग दाँतों तले उँगली दबाते थे, क्या वह सिर्फ़ इसलिए है कि निरर्गल और व्यर्थकी प्रेमकी बातोंमें भुला दी जाय? वे समझते हैं कि अधिक-से-अधिक प्रेम-प्रदर्शनसे वे मुझे प्रसन्न कर रहे हैं, दिन-रात, तुम परी हो, तुम अप्सरा हो, तुम यह हो, तुम वह हो और मैं तुमपर भौंरे, परवाने और पपीहेकी तरह मरता हूँ। सच कहती हूँ भाई साहब, इन बातोंमें मेरा मन नहीं लगता। हाँ मैं सुन्दर हूँ—तुम मरते हो, फिर? लेकिन वे हैं कि दफ्तर जायेंगे—जो घरसे एक मील है—तो चार खर्रे भरकर प्रेमपत्र लिख भेजेंगे, जैसे न जाने कितने वर्षोंके वियोगमें जल रहे हैं। उसमें सैकड़ों सिनेमाके गीत लिखे होते हैं, तकदीर कोसी गई होती है, दुनियाको लानत दी जाती है कि भाग्यका खेल है, दुनियाने हमें यों अलग कर दिया है, वह हमारा मिलन यों नहीं सह सकती। पता नहीं वह दुनिया कहाँ रहती है? अब आप ही बताइये इन मूर्खतापूर्ण बातोंसे क्या फ़ायदा? कोई कहाँ तक अपनेको इन बेवकूफ़ियोंमें उलझाये रखे।' और भाभी, नलिनीका अन्तिम पत्र तो बड़ा ही करुणापूर्ण है।

लिखा है, 'मेरे चारों ओर भीषण अन्धकारकी एक अभेद्य चादर आकर खड़ी हो गई है, भाई साहब, मैं तब कितनी रोई-चीखी थी कि मुझे इस अन्धकारके गर्तमें मत धकेलो, मैं वहाँ मर जाऊँगी! इस अन्धकारके खूनी पञ्जोंने मेरी अभिलाषाओं और उच्चाकांक्षाओंकी गर्दन मरोड़ दी है, और अब मैं इतनी अशक्त हो गई हूँ कि छटपटा भी नहीं सकती। खाने-पीने और प्रेमकी इन झूठी-सच्ची बातोंके बाद बचे हुए समयमें कभी शॉपिंग करने, घूमने या सिनेमा जाने या दिन-भर औरतोंकी इस-उसकी बुराई-भलाई करनेवाली बातोंमें अपनी ज़िन्दगीको बाँध देनेमें मैं अपने आपको बिल्कुल असमर्थ पा रही हूँ। इन दिनों यह मानसिक भर्त्सना मुझे खाये जा रही है। भाई साहब, मैं क्या करूँ? मैं मानती हूँ, हज़ारों लड़कियोंको यही चरम और परम सुख है—पतिका अन्धाधुन्ध प्यार, सोने और चाँदीसे भरा-घरबार, और निश्चित दिन। लेकिन इतने दिन मैंने जो कुछ भी पढ़ा, जो कुछ भी सीखा, जो आज भी मैं समझती हूँ, लाखों लड़कियोंसे अच्छा था, क्या केवल इसीलिए था कि यहाँ आकर सड़ जाय? यहाँ करने बैठूँ भी तो ज़्यादा-से-ज़्यादा खाना बना लूँ, चौका-बर्तन कर लूँ। हो सकता है इन बातोंमें मेरा सारा समय लग जाया करे—लेकिन बस? इसीलिए मैंने उस देवदुर्लभ प्रतिभाको सँजोया था? भाई साहब, ये शादी करनेवाले लड़कियोंके यहाँ जाकर पूछते हैं—तुम्हारी लड़की गाना-बजाना जानती है, कसीदाकारी जानती है, मिठाई बनाना जानती है?—उस समय उनकी इच्छा होती है, कि संसारका कोई काम क्यों बच जाय जिसे यह लड़की न जानती हो? लेकिन कोई इनसे पूछे, विवाहके फेरोंके बाद सिवा चौके-चूल्हेके कौन-सी कलाकारी लड़कीके काम आती है। कोई मुझसे पूछे, मेरी सारी किताबोंको कीड़े खाये जा रहे हैं। पढ़नेके प्रति किसीमें रुचि नहीं है। यों शौक सभीको है कि लड़कीके सामने एजूकेटेड शब्द लगा सकें। वैसे सभीको पाउडर, लिपस्टिक और बुनाइयोंकी बातें

करनी उससे अधिक आवश्यक लगती हैं। बुनाई इसलिए नहीं कि कला है, बल्कि इसलिए कि फ़ैशन है; इसलिए कोई नई बुनाई देखी सब उसकी नकल करेंगी। नया ब्लाउज़, साड़ी देखी, वैसी ही लायेंगी—बनवायेंगी। नये कटका गहना देखा, खटसे पहला टूट रहा है नया बन रहा है। रोज़ चीज़ें टूटती हैं, रोज़ बनती हैं। किसी-किसीको तो शायद एक बार भी नहीं पहना जाता, और टूटकर नया बन जाता है, क्योंकि वह पहलेसे अधिक सुन्दर है। और यह क्रम कभी खतम नहीं होता। मेरे वायलिन और सितारमें मनों धूल भर गई है। महादेवी और मीराके गीत मैं यहाँ गाकर सुनाऊँ तो सब उल्लुओंकी तरह मेरा मुँह देखें। बात-बातमें इनकी इज्ज़तका ध्यान, बात-बातमें स्त्री होनेकी घोषणा। यह ऊँचे घरोंकी बातें हैं। नीच घरोंको भी देखती हूँ, जहाँ चूल्हे-चौकेसे ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। सच भाई साहब, आज हृदयमें बड़ी प्रचंड शक्तिसे यह भाव उठ रहा है कि काश, मैं एक साधारण लड़की होती। मूर्ख और भेड़, जिसके बचपनकी सारी तैयारियाँ, शिक्षा-दीक्षा केवल विवाहके लिए होती हैं, और विवाह होनेके बाद जैसे इन सारे झंझटोंसे छुटकारा मिलता है। इस सबके लिए शायद सबसे अधिक दोषी आप हैं। आपने ही मेरी महत्वाकांक्षाओंको उभाड़कर इतना बढ़ा दिया था कि तू यों करेगी, यों करेगी! आपने ही मेरे दिमाग़में भर दिया था कि मैं असाधारण प्रतिभा-शालिनी हूँ, और आपने ही अपने कन्धोंपर चढ़ाकर इतना ऊँचा उठा दिया था कि आज जब ये लोग मुझे फिर उस कीचड़में घसीट रहे हैं, तो टूट जाना चाहती हूँ, बिखर जाना चाहती हूँ, मर जाना चाहती हूँ, पर नीचे नहीं आ पाती। अब बताइये मैं क्या करूँ? कैसे मर जाऊँ? मैं कब तक यों छटपटाती रहूँ? भाई साहब, मुझे कोई रास्ता बताइये, बताइये न! केवल विवाह करके यों इन चारदीवारियोंमें सड़ जानेके लिए शायद मैं नहीं जनमी थी, मुझे और कुछ करना था—मुझे कुछ और करना था!'

"खैर भाभीजी, यह उसका अन्तिम पत्र था, फिर तो उसका तार ही आया।"

यह सब बोलनेमें सुधीन्द्र भाईका स्वर न जाने कितनी बार गीला हुआ, कितनी बार भर्राया, पर इस बार तो जैसे वह बोल ही नहीं पाये। गलेमें कफ़-सा अटक गया, उसे खाँसकर साफ़ किया फिर थोड़ी देर चुप रहे। पापा बुद्ध भगवान्‌की मूर्तिको धीरे-धीरे पृथ्वीपर ठोक-ठोककर खेल रहा था, एक बार हमने उस ओर देखा, पर जैसे भाव-शून्य होकर। सब उत्सुकतासे सुधीन्द्र भाईकी ओर ही देख रहे थे।

"मैं जब वहाँ गया तो पता चला कि वह अस्पतालमें है," संयत होकर सुधीन्द्र भाईने कहना आरम्भ किया।

"अस्पताल ?" प्रायः सभी चौंके।

"हाँ।" उन्होंने कहा, "उसके सारे घरवाले स्तब्ध-से थे। अस्पताल गया—देखा उसका सारा शरीर फफोलोंसे भरा था या जलकर काला हो गया था। वह मर चुकी थी, उसने मिट्टीका तेल छिड़ककर आग लगा ली थी।"

"हैं !" जैसे किसीने बड़े भारी काँसेके घण्टेमें समस्त शक्तिसे हथौड़ा दे मारा—सारा वातावरण झनझनाकर थर्रा उठा।

उसी समय पापाने बुद्ध भगवान्‌की मूर्तिको ज़ोरसे पृथ्वीपर पटक दिया। खन-खन करते हुए सुन्दर खिलौनेके चमकदार टुकड़े इधर-उधर बिखर गये......

हम सब मन्त्र-जड़ित थे।

घण्टेकी झनझनाहट गूँज बनकर डूबती जा रही थी।

परदेशी

परदेशीका जन्म १९२३ में हुआ। घरपर सब कुछ था, परन्तु जिजीविषा घरसे बहुत दूर ले गई—बम्बई। "बम्बईमें वह सब देखा, जो न देखना था। वह सब किया, जो न करना था। शहराती जीवनकी विभीषिका और वैषम्यका मनपर गहरा प्रभाव पड़ा।" कथा-साहित्य और राजनीतिकी ओर प्रवृत्त हुए। क्लर्की, प्रेस-मैनेजरी, मास्टरी, सम्पादन, प्रचार-कार्य—उदर-पूर्तिके लिए अनेक धन्धे अपनाये, किन्तु मन किसीमें रमा नहीं। आरम्भमें कविताएँ लिखीं, अनन्तर कहानियाँ, उपन्यास और राजनीति पर पुस्तकें।

परदेशीकी कहानियोंमें चिमनियोंकी मायानगरी बम्बईके निम्न मध्यवर्गीय जीवनकी हृदयहीनता, कटुता, क्रूरता और घिनौनेपनका यथार्थ चित्रण हुआ है। ऐसा सजीव चित्रण कि पाठक स्तब्ध रह जाता है। परदेशीकी ये प्रकृतवादी कहानियाँ ('१२६ वीं लड़की', 'द्रौपदी') जो बहुधा पाठकके मुँहमें राखका सा स्वाद छोड़ जाती हैं, शायद कुछ लोगोंको 'गन्दी' लगें। ऐसी स्थितिमें यह कहना आवश्यक होगा कि परदेशीकी कहानियोंकी ये 'गन्दगी' उस अन्धसंघर्षमय शहराती जीवनकी गन्दगी है जिससे उनके कथानक उठाये गये हैं। जो हो, इतना तो मानना ही होगा कि परदेशी हमें झकझोरकर उस दुनियाके प्रति सजग कर देते हैं जिसकी ओरसे हम शायद सदा आँखें मूँदे रखना पसन्द करते। परदेशीकी अपनी शैली है और उसमें वेग, प्रवाह तथा शक्ति है।

परदेशीका एक कथा-संग्रह 'चम्पाके फूल'; दो उपन्यास 'चट्टानें', 'औरत, रात और रोटी'; और तीन कविता-संग्रह 'चित्तौड़', 'जयहिन्द', 'परदेशीके गीत' प्रकाशित हो चुके हैं। सद्यःप्रकाशित पुस्तकें हैं—'भगवान् बुद्धकी आत्मकथाः १' और 'एशियाकी राजनीति'। 'योरपकी राजनीति' यन्त्रस्थ है।

• अवरोध

—परदेशी

माँ ने जाने क्या सोचकर उसका नाम समरथ रख दिया था। देहीमें एकदम दुबला, और कायासे कमज़ोर! स्वभावमें सीधा और भोला। चरित्रमें साधारण।

सारा गाँव कहता—इस विधवा भटियारीको तो देखो, जैसे इसीके लड़का हो और सब औरतें निपूती हों! रहनेको सरपर छप्पर नहीं, पेटका ठिकाना नहीं, फिर भी बेटेका नाम 'समरथ'! रखनेको यही नाम मिला इसे? और भी तो बहुतेरे नाम थे? इकलौता है, तो 'अमरत' नाम रख देती, समरसे अमर हो जाता! पर समरथ? गाँवके लोगोंकी घिसी-पुरानी बुद्धिमें यह नये आकार-प्रकारका नाम कैसे समाता? सो, उन्होंने समस्या का हल निकाल लिया, और समरथ—'समा' रूपमें असमर्थ बन गया।

जब बाप मरा तो सवा नौ महीनेका था। दो-तीन साल तो वह बीमार-बीमूर रहा, फिर चंगा हो गया और दस तक कभी सिर न दुखा उसका। बुढ़िया माँने किसीका पिसना पीसा, किसीके बर्तन माँजे, किसीका चौक और किसीका पानी पूरा। और यों पतिकी निशानीको समरथ बनाया। चौधरियोंके घरसे कमीज़ और धोती माँग लाती। छोटा-सा समरथ लम्बे आस्तीनवाला, घुटनोंसे नीचा कमीज़ पहने स्कूल जाता और हरेक साल, किसी-न-किसी प्रकार अगली कक्षामें बैठ जाता। अध्यापक जानते थे कि यदि समरथ फ़ेल हो गया, तो बुढ़िया आकर तब तक रोती रहेगी, जब तक उसका लल्ला पास न हो जाय! इस तरह समरथ उत्तीर्ण होकर बढ़ता गया और एक दिन जब समाचार-पत्रमें उसकी तसवीर आ

गई तो जैसे वृद्धाकी मनोकामनाएँ मूर्त हो गई। बात यह थी कि अपनी ग़रीबीके प्रति चेतना जाग्रत होनेसे सातवें और आठवें दर्जेमें समरथने तन-तोड़ मिहनत की और पूरे सूबेमें प्रथम आकर समरथ कुमार बन गया। इसी साल उसने दो नई मंज़िलें और तय कीं। एक तो यह कि वह हाकिमोंकी तरह घुमा-फिराकर हस्ताक्षर करना सीख गया और दूसरे जब परीक्षा देने शहर गया, तो स्कूलकी दीवारके नीचे बैठे फ़ोटोग्राफ़रसे अपना चित्र खिंचवाया, जिसमें वह हवाई जहाज़की खिड़कीमें दिखाई दे रहा था। इस 'छवि' की चार कापियाँ उसने सवा रुपयेमें खरीदीं। उन पर हस्ताक्षर किये और एक कापी अम्माको दी। देखते ही उसका कलेजा धक् रह गया—"अरे लल्ला, कहीं जहाज़ चीलकी तरह नीचे गिर जाता, तो मैं क्या करती? रो-रोकर अपने प्रान ही दे देती!"—दूसरी कापी उसने खुद रखी। तीसरी अपने साथी को दी, और चौथी—चौथी प्रानको डाकसे भेज दी।

काँपते-हाथों उसने प्रानको पत्र लिखा, कई बार उसे चूमा, उसके बायें सिरेपर गुलाबके फूल और पत्ते बनाये और पेस्टल बॉक्सके रंग भरे। फिर, दोस्तोंकी नज़र बचाकर उसपर पता लिखा और डाकमें छोड़ आया। लेटरबॉक्समें खतके गिरनेपर जब 'खट' की ध्वनि हुई तो उसे खटका हुआ, कहीं प्रान अपने भैयासे कह देगी, तो? या माँसे ही कह दे? डाक-घरसे लौटनेपर बड़ी रात तक उसकी छाती धड़कती रही। उसने खाना नहीं खाया—न खाना ही चाहिए था उसे, इसीमें नैतिकता थी उसकी, क्योंकि उसे प्रेम हो गया था और अब वह बाक़ायदा प्रेमी और समझदार विरही था!

उसने अपने बिछौनेपर पड़े-पड़े सोचा कि प्रान अपनी छातीसे उस फ़ोटोको चिपकाये सिसकियाँ भर रही है और केसरिया ओढ़नीके छोरसे गुलाबी आँखें पोंछ रही है। समरथके हृदयमें भावनाका आवेग उभर

आया और आँखें परिपूर्ण हो आईं—यह आठवींके एक सफल छात्रके रूपमें उसकी प्रथम प्रेम-पीर थी—भय, विनय, संशय-भरी। मधुर और भोली!

फिर तीन साल तक समरथ 'इंग्लिश ट्रान्स्लेशन एंड कम्पोज़िशन' में दिये हुए नमूनेके अनुसार अर्ज़ियाँ लिखता रहा। यहाँ तक कि उसे सारा मज़मून कंठस्थ हो गया और गाँवके अन्य छात्र उसके पास आकर अर्ज़ियाँ लिखवाने लगे। दिन भर बेर-अबेर घरपर ताँता लगा रहता, बड़े-बूढ़े चिट्ठियाँ पढ़वाने आते। विधवाएँ 'मनीआर्डरसे लौ लगाये हुए', पतोहूको आशीष लिखाने आतीं। बहुएँ परदेस गये पतियोंसे अबकी सावनमें आनेकी शपथ लिखवातीं और पति, जो अहमदाबादकी मिलोंमें लोहेके साँचोंमें अपने सपने ढाल रहे थे, बोनस मिलनेकी आसमें जी रहे थे!—इससे एक लाभ हुआ कि भटियारी माँ के मनसे नौकरी न मिलने का ग़म समरथकी योग्यताके भ्रमसे कम हो गया और उसे घर आये लोगोंके स्वागत और आवभगतमें गौरव अनुभव होने लगा। लेकिन, इन सबसे काम कैसे चलता, और पेट तो रोटीसे ही भर सकता है—काग़ज़से नहीं, किताबोंसे नहीं; मान और सम्मानसे नहीं; प्रानके माखनिया चेहरे से नहीं, उसकी चपल-कजरारी आँखोंसे नहीं!

नतीजा यह हुआ कि जेबमें, कई रातों जागकर लिखी, एक लम्बी अर्ज़ी लिये, गठरीमें खाना बाँधे और प्रानके पितासे इकन्नी-रुपया-सूदपर माँके लाये पच्चीस रुपये लेकर समरथ बम्बई चला। माँने माथेपर दहीका टीका लगाया। बहन थी नहीं, सो पड़ोसकी एक बालिका शुभ-शकुन रूपमें सामने आई। इसके पश्चात् मित्र और जोड़ीदार बीस मील दूर पहुँचाने आये, जहाँ विधवाके क़िस्मत-सा सूना एक छोटा-सा स्टेशन था। दो-एक मित्र साथ ही बसमें बैठ गये। जो मित्र प्रेममें प्रबल और अर्थमें

अबल थे, वे अँधेरे-मुँह पैदल प्रस्थान कर गये कि समयपर स्टेशन पहुँचकर प्रतीक्षा करें। आखिर, उनका एक दोस्त और गाँवका पहला जवान—जिसका फ़ोटो अखबारमें छप चुका है, कमाईके लिए दूर परदेस—बम्बई जा रहा है! यह तो एक ऐतिहासिक घटना थी। बेचारे गँवई लोगोंको तो इस अण्डाकार नामका सही उच्चारण भी नहीं आता! न उन्होंने रेडियो सुना था, जिसपर मेम हर शाम गला गुदगुदाती है—'दिस इज़ बॉम्बे कालिंग...'समरथकी इस यात्रासे गाँवके प्यालेमें तूफ़ान आ गया। उत्साह की लहर व्याप्त हो गई। और यह सारा उत्साह-सार माँके अन्तरमें समा गया और वहाँ बे-तारसे उसका तत्त्वांश समरथके मर्मपर छा गया। बम्बई का सपना सजग खड़ा हो गया—पैंतालीस लाखकी आबादीवाला विराट् नगर! पन्द्रह लाख सड़कपर सोने वाले! मानो फ़ुटपाथके इन वासियोंसे भी बम्बईकी शान और शोभा—उसका दबदबा बढ़ता है।

चौधरीने कहा—"भटियारी माँ, सहर क्या है, समुन्दर है! पूरा सूना ही समझ। इन्दरपुरी है। मिट्टी भी मोल बिके है, एक आनेमें पाव भर!"

भटियारी माँ—समरथकी असमर्थ माँ—कुछ न समझ सकी। वह क्या जाने कि ज़माना बदलनेसे पहले, लोगोंकी नीयत बदलकर मिट्टीमें मिल गई है।

फिर वे लोग आये, जो हरिद्वार या रामेश्वरकी यात्रामें जेब कटवाकर घर लौटे थे, उन्होंने जेबकतरोंसे लड़केको सावधान किया। और पेन्शनर करीम खाँने खुदासे उसके भविष्यकी दुआएँ माँगनेके साथ ही उसे उन 'फैसनवालियोंसे खबरदार रहने' को कहा, 'जो बेसरम होकर दीदे फड़कावे है।' वास्तवमें, करीम खाँ बरसोंसे रँडुआ था और उसकी अतृप्त वासना आये दिन पाँच भले आदमियोंके बीच उपदेशका अमृत बनकर झरती थी।

सो, उस दिन समरथ चला।

प्रान इसके पहले मिली थी। पिछवाड़ेकी कड़ी खोल, ठाकुरोंकी बाड़ी लाँघकर, नीम-नीचे चोरी-चोरी वह आ गई थी। समरथके सीनेसे लग कर वह खूब रोई। समरथको भी असह्य वेदना लगी। न शब्द सूझते थे, न बोल निकलते थे। घरसे जब चला था, राह भर अपनी कमज़ोरीको दबाता जा रहा था। पर वह टूटी हुई स्प्रिंगको तरह, ऐन वक्तपर उभरकर ऊपर उठ आई! इसपर भी वह प्रानसे दूरी बनाये रहा, क्योंकि पिछली-बार मेहताओंके बग़ीचेमें जब वह मिली थी, तब समरथने, जाने भूलसे, जाने-अनजाने, देखे-अनदेखे उसके अधरोंका अमृत छू लिया था। तब तो तुरन्त प्रानके प्राण-पंछी जैसे उड़ गये हों—बाँहोंसे छुड़ाकर और पीठ उसके हाथोंसे हटाकर छूट गई और फुसफुसकर अचानक सिसकने लगी। समरथने बड़ी आरजू-मिन्नत की। रूमालसे उसके आँसू पोंछे, हाथ जोड़े और मुँहपर हाथ रखकर चुप करनेकी कोशिश की, कि हवा भी न सुन ले।

जब काँप-काँपकर समरथ रह गया और प्रेमके अँधेरेमें कोई मार्ग न सूझा तो उसके मुँहसे निकला—"प्रान, मुझे मरा देखे, जो कारण न बताये, क्यों रोती है?"

प्रानने लंबी-लंबी साँस लेकर, पहले हिचकियाँ समेटीं। फिर नज़रें नीची कीं और पलकें ढाल दीं और दोनों हाथोंकी अपनी उँगलियोंसे अपने नाखूनोंको छुआते हुए लाजमें बोली—"और हम पूछें, चूमकर तुमने हमें जुठला दिया और अब इससे...हम कहें, इससे हमारे...बालगोपाल हो गया, तो...हम कहें...नदीमें हम डूब मरेंगी!"

"धत् तेरी, इसीके लिए यह बवाल मचाया था कि?" समरथने चौधरीकी दुलारी बिटियाके धौल जमाया। बोला—"हम कहें प्रान, जो किसी नन्हे-मुन्नेको चूमते हैं, तो क्या उसके बालक हो जाता है?"

लड़की लड़केके समान कुशाग्र बुद्धि नहीं थी। उसके तर्कसे प्रसन्न हो गयी।

और आज पाँच वर्ष बीत गये!

जीवनकी धारा अनेक पथरीली और ऊँची-नीची जगहोंपर बहनेपर भी, अपनी वक्रता छोड़कर सीधी सपाट न बही। आज प्रान नहीं, माँ नहीं, साथी-संगाती नहीं। सिर्फ़ यह बाज़ार है—भरा-भरा, पर सूना-सूना। बंबई है—लंबी-चौड़ी बंबई! काली-सफ़ेद सड़कोंवाली, लंबी डाढ़ों-वाली बंबई—जैसे मृत पूतना देह पसारे पड़ी है!

बीचमें ८०० मीलकी दूरी है। उधर प्रान है, माँ है; इधर वह है, और है बेकारी और मुफ़लिसी। बीचमें यह सैकड़ों मीलोंकी लंबाई फैली है। घर, मकान, कपड़ा, दाल, रोटी और पेटकी सुरक्षा मजबूरी बनकर दूरीमें बदल गई है। प्रतिमास वह माँको दिलासा देता है—'जल्द आऊँगा।' माँका पत्र आता है—'आँखोंसे कम दीखता है।' जल्द आऊँगा। प्रानके रेंगते अक्षरों वाली पाती आती है—जल्द आऊँगा। और वह अपनेसे कहता है—जल्द आऊँगा?

उसकी जल्दीके ये दिन और रातें—ब्रह्माके दिन-रात बन गये हैं। दूरी कभी खत्म नहीं होती, मजबूरीका अन्त नहीं। पाँच वर्ष निकल गये और पाँच वर्षों के लगभग दो हज़ार दिन कड़ियाँ बन-बन शृङ्खलाके बंधन बन गये हैं। प्रान तक पहुँचनेका 'कोई खास कारण नहीं'। माँ के पास जाकर जी जुड़ानेमें 'कोई विशेष रुकावट नहीं' केवल यही कि पैसा—राह-खर्च उसके पास नहीं है।

लेकिन वह माँ को कैसे समझाये कि सचमुच ही पैसा उसके पास जल्द आनेवाला है और वह माँ के पास जल्द आनेवाला है। आखिर वह झूठा नहीं। एक दिन वह ज़रूर जायेगा, उसे जाना ही है। यहाँ 'कोई

खास अड़चन नहीं। बात सिर्फ़ इतनी-सी है कि पासमें बाईस रुपये छह आने नहीं हैं।

और अक्सर रेल्वे ऑफ़िसमें बुकिंगकी खिड़कीपर वह पूछ-पाछ कर लेता है—"किराया कम हुआ?"

"नहीं!" चश्मा-लगी आँखोंसे बाबू उसे घूरकर देखता। बाबूके फूले मुँहसे निकला यह 'नहीं' पहले सीधा, फिर तिरछा होकर उसके कानोंमें प्रविष्ट हो, पेटमें, जिगरमें पहुँचता है। फिर वहाँ पहुँचकर उलट जाता है जैसे नागन डँसकर उल्टी हो जाती है। तब एक दर्द बाक़ी रह जाता है।

उस दर्दकी घुटनमें भी वह लिखता है—बड़े आराममें हैं। लम्बी-लम्बी सड़कें, ऊँचे-ऊँचे मकान, जिनका छज्जा देखना चाहो तो सिरसे टोपी गिर जाये। जब बाहर यह हालत है, तो भीतरवालोंका क्या हाल होगा? उनका तो सारा सिर ही फिर गया है! जहाँ चाहो इकन्नीमें ट्राममें बैठकर पहुँच जाओ। बड़ी-बड़ी होटलें, स्टुडियो, दफ्तर, कम्पनियाँ, इमारतें, हेगिंग गार्डन, नेशनल पार्क, और मिल्क कॉलोनी, जूहू, ताज, गेट-वे, एशियाका सबसे बड़ा स्टेशन—वी० टी०, और कलकी—अमरीकी दुकानमें आज आ बैठा खादी-भण्डार, तेरह हज़ार महीना जो शो-केसका किराया देता है, सब कुछ तो है—लेकिन एक नौकरी नहीं। पाँच सालोंसे वह दफ्तर-दफ्तर और सड़क-सड़क और सड़कसे दफ्तर तक भटक रहा है। हज़ारों मील उसने पैदल तय कर डाले हैं, पर अभी नौकरी नहीं। और घर लौटनेके लिए आवश्यक रुपये भी नहीं। दुनियामें सब कुछ होते हुए भी जैसे उसके लिए कुछ भी नहीं है, क्योंकि उसके पास नौकरी नहीं है।

"बाबू जी, बाईस छह आनेसे किराया कम हुआ?"

"नहीं जी, कम कैसे होगा, अब तो और भी बढ़ेगा।"

उसका चेहरा बदल गया है। आँखें अन्दर, गालोंकी हड्डियाँ बाहर और क़दम सुस्त पड़ गये हैं। दिमाग़ थक गया है। नज़रोंमें प्रानका चेहरा

धुँधला पड़ने लगा है, और आँखों-आगे माँकी तसवीर मिटने लगी है !

भटकन, भुखमरी, बेरोज़गारी ! कल्पना, चिन्ता, भ्रम ! आशा, निराशा और परेशानी ! समुद्र, रेगिस्तान और दलदल !

समरथ इतना मायूस और फटेहाल दिखने लगा कि लोगोंको दया आती। उसे वे सब स्थान मालूम हो गये थे, जहाँ मुफ्तमें खाना मिल सकता है—नरनारायण-मन्दिर-द्वारपर गुजरातिनें, पारसियोंकी 'अग्यारी'पर पारसिनें और माधोबाग़में मारवाड़िनें रोटी-चावल बाँटने आतीं। वह ज़रूरत देखकर सब जगह जाता रहता।

राहगीर एकाध इकन्नी थमाकर चले जाते। खुश होकर वह ले लेता। सिक्केको ग़ौरसे देखता। किङ्ग इम्पररकी तसवीरसे उसे भय, विस्मय और आनन्द मिलता। सहेजकर वह पैसा रख लेता। जब तीन-चार-पाँच रुपये हो जाते, तत्काल माँ को भेज देता।

माँ और प्रानकी खुशी उसपर केन्द्रित थी और उसकी खुशी सिक्केपर अङ्कित किङ्ग इम्पररकी छविपर निर्भर थी। काश, उसके पास इतने किङ्ग इम्परर हो जायें कि वह घर—अपने घर—पहुँच सके, जहाँ उसकी बुढ़िया माँ है और प्रान है और है वह नीम—जिसकी छायाके नीचे हवाएँ धीरे-धीरे बहती हैं, परछाइयाँ मिलती हैं और लड़कियाँ चोरी-चोरी चलती हैं !

मनीआर्डर-फ़ार्मपर दो पंक्तियोंमें कंठस्थ शब्द लिखता—"जल्द आऊँगा, बहुत जल्द ! काम ठीक चल रहा है। उन्नतिकी उम्मीद है। चौधरीको पाँलागन।"

चर्नी रोडके प्रार्थना-समाज-कॉर्नरपर अपने ज़िलेका एक पनवाड़ी उसे मिल गया और उससे पहचान हो गई। उसीके पतेपर समरथ पत्र मँगवाता, वहीं प्रानके और माँके लिखवाये चौधरीके पत्र पहुँचते। माँ लिखती—"बेटा, मुझे रुपये-पैसे नहीं चाहिए, दोनों जून भरपेट खाना और जतनसे रहना। जल्द आना।"

और प्रानको तो एक ही रटन थी—"अब हम कहें, तुम आ जाओ।" ......पाती हाथोंमें थमी है। बाईस छह आने बढ़कर अट्ठाईस हो गये हैं। स्वराज्यमें सब चीजें मँहगी हो गई हैं। एक बेकारी, भुखमरी और वेश्याई ही सस्ती है। उसकी नज़र पातीपर है, जिसके अक्षर बृहदाकार हो बढ़ते जा रहे हैं, बढ़ते जा रहे हैं...दिमाग़ कहीं और है...कोई चिबुकपर अँगुली छुआये...गैलपर आँखें लगाये बैठी है!. मन और प्राण जिसके आशाका तार बन गये हैं...सपनोंपर जो जी रही है...और अट्ठाईस रुपये? वह मुसकरा दिया, विक्षिप्त-सी एक हँसी उसके अधरोंपर फैल गई।

हर शनिचार वह डाकघर जाकर अपनी पत्रियाँ लाता। डाकिया उसके पतेतक रेंगता हुआ आये— इतना चैन उसे नहीं था। दो-तीन मील चलकर वह अपना ख़त पाता। विन्डो-डिलीवरीके समयसे पहले ही, वह क्यूमें खड़ा हो जाता। कभी उसका पत्र होता, कभी नहीं। उसके आगे-पीछे खड़े व्यक्तियोंके नाम मनीआर्डर आते, पर शायद पूरे पतेदारोंमें वही एक ऐसा था, जिसके नाम कभी मनीआर्डर नहीं आया।

प्रायः इधर-उधर बोझ ढोकर सिनेमाकी खिड़कीके 'क्यू'में होकर, कारोंसे उतरनेवाली सुन्दरियोंके द्वार खोल, सलाम बजाकर, फुटपाथपर बैठकर, फुटकल सामान बेचने वालोंकी सुरक्षामें गलीके छोरपर दिन-भर खड़ा रहकर, इस बातका ध्यान रखता कि हलकेका पुलिसमैन तो नहीं आ रहा है—उसको दूरसे देखते ही वह लपककर सौदागरोंको सूचना देता, और वे अपना-अपना सामान सिरपर उठाकर आसपासके मकानोंके नीचे जा खड़े होते—इन सब क्रिया-कर्मसे, महीनोंके अथक परिश्रमपर कुछ रुपये वह जमा कर लेता, पर जब उन्हें कल्पनाके अट्ठाईस रुपयोंकी बराबरीमें रखकर नापता, तो उसका कलेजा बैठ जाता। और इतने दिनोंके उपरान्त इस समयतक, नहाने-धोने और पेट-भरकर भोजन कर लेनेकी उसकी इच्छा बलवती हो उठती। वह बहुत मनाता कि ईश्वर उसकी भूख कम

कर दे और पाचन-शक्तिको मिटा दे, पर ईश्वरने समरथकी अन्य माँगों और विनतियोंके समान इस माँगको भी रद्द कर दिया था। उसे आश्चर्य था कि क्या कारण हो सकता है, बड़े आदमियों और सेठोंकी पाचन-शक्ति क्षीण होनेका, बावजूद इसके कि जो चीज़ें वे हज़म कर जाते हैं, उन्हें हज़ारों समरथ मिलकर भी नहीं पचा सकते!

एक दो बार मिलके दफ्तरसे उसे बुलावा भी आया, पर वह समयपर इसलिए नहीं पहुँच सका कि उसके पास धुली कमीज़ और कम-से-कम साफ़ दाढ़ी नहीं थी। चप्पल उसके फट गये थे, और अब उसने उसके नीचे सड़कपर प्राप्त दो मोटे पुट्ठे बड़ी कुशलतापूर्वक सी दिये थे। उसे बड़ा दुःख है कि उसकी 'न मिली नौकरी' चली गई। और वह अट्ठाईस रुपये का वारिस न बन सका और माँके पैर छूकर प्रानका मुखड़ा देखनेसे वंचित रह गया!

पिछले दो हज़ार दिन अपने चौबीस-चौबीस घंटोंकी बरात लेकर उसके सामनेसे गुज़र गये और वह उतनी-उतनी बार माँसे और प्रानसे जुदा होकर दूर होता गया! उसके अन्तरतमके मर्ममेंसे कोई झाँककर पूछने लगा—और प्रान तो अब सयानी हो गई होगी...बालास तरुणी! चेहरा और बदन भर गया होगा।...निबौरियाँ अब भी गदराती होंगी और प्रान, तुम नीम-नीचे अब भी आती होगी?...समरथका रोम-रोम रससे भीग गया और आँखें अनदेखे आनंदसे आर्द्र हो आईं।

सेन्ट्रल-सिनेमामें दूसरा शो शुरू होनेकी घंटी बज रही थी। उसके आस-पास ब्लैकवाले मक्खियोंकी तरह भिनभिना रहे थे—'वन-फाइव-अबन-ट्वेल, टू एट-थ्री फ़ोर'।

काश, उसे नौकरी मिल जाती, तो सबसे पहले माँको पुष्करजीके स्नान करवा देता! फिर प्रानको लेकर बंबई लौट आता, इस सिनेमामें लाता! इस भरी भीड़में उसकी प्रान किसी राजकन्यासे कम न जँचती!

पर ज़िन्दगी तो नीमकी पत्तीकी तरह है, कड़ुआपन लिये रहेगी और पीली पड़कर एक दिन अचानक झड़ जायेगी।

और हरेक गुज़रते हुए दिनके साथ, घर लौट जाने, प्रानको पाने, और माँके हाथोंकी बनी रोटी खानेकी उसकी आशा क्षीण पड़ती जाती थी। ऐसा लगता था—ससुरालसे तिरस्कृता, किसी सेठकी लड़की-सी उसकी आशाको क्षय-रोग हो गया है और वह तिल-तिलकर घटती जा रही है और एक दिन उसका हृदय-स्पन्दन रुक जायेगा, आँखें खुली रह जायेंगी, कि कुछ देखना चाहती थीं, पर देख न सकीं, ओठ खुले रह जायेंगे कि कुछ कहना चाहते थे, पर कह न सके—पति-परित्यक्ता-श्रेष्ठि-कन्या-सी उसकी सुकुमारी आशा!...भिखारियोंके सपनों और मुफ़लिसोंकी आशाओंका क्या मूल्य? उनकी क्या वक़त? सामने जो खड़े हैं मही-रावण, उन्हें तो ललकारनेवाले चाहिए।

ज्यों-ज्यों दिन जा रहे हैं, उसका ख्याल बँध रहा है कि उसे लड़ना होगा। ऐसी-वैसी नहीं, भारी लड़ाई लड़ना होगा। क्यों, जिधर जाओ उधर पैसा माँगा जाता है और पैसा ही नहीं, भरपूर पैसा, जैसे कोई लूट हो रही है और इन अगणित लोगोंमेंसे अनेक इस लूटमें लगे हैं और अनेक इसके शिकार हैं! इस विचारपर समरथको लगा कि उसके आँखों-आगेका अँधेरा थम गया है, रोशनी बढ़ गई है और मनकी घुटन, बेबसी मंद पड़ गई है। ऐसे-ऐसे विचार जब उसे आते हैं, जाने क्यों जी हल्का हो जाता है।

और उसके जल्द आनेकी चिट्ठी पाकर माँ कितनी पुलकित-प्रसन्न हो उठती होगी! उसके लिए पापड़, बड़ी पकौड़ीकी तैयारियाँ करती होगी और गाँव-भरमें कहती फिरती होगी—"इस बार लल्ला ज़रूर आयेगा। इस बार सोनाकी माँ, बेटा...।"

लेकिन, इस बारका तूफ़ान और उल्कापात पहले उसके सीनेमें उठा और पटरीसे गिरी गाड़ीकी तरह उसकी साँसें उलट गईं और आवेग इतने वेगसे बढ़ा कि आँखें पोंछनेका उसे मौक़ा न मिला। माँकी रोती-बिलखाती मूरत सामने आ गई और सामने सेन्ट्रल-सिनेमापर लगी 'श्रवण कुमार' की माँकी तसवीरमें उसकी अपनी माँका मुख उभर आता लगा—उसने स्पष्ट देखा, वह रो रही है। उसकी ओर समरथका एक हाथ उठा, परन्तु माँ तक नहीं पहुँच पाया—वह कैसा है, जो माँके आँसू नहीं पोंछ सकता है? इतनी विवशता, इतनी मजबूरी? दिन इसी तरह बीतते। शरीरकी शिरा-शिरा और रोम-रोम माँके लिए विकल हो, माँ-माँ पुकारने लगे। और वह सोचता, भोरसे साँझ तक माँका कार्य-क्रम—अब वह जगी होगी, गाय दूहती होगी। चौधरीके पानी-सानी करती होगी। छिपी कहीं कोनेमें प्रान पूछ रही है—"माँ पत्तर आया?"

इस प्रकार वह माँके पीछे-पीछे फिरा करता और यों ही भूख और उदासीका अपना समय गुज़ार देता। परेशानियों और परिस्थितियोंसे लड़ते-लड़ते उसका स्वभाव लड़ाका हो गया था। हरदम वह गर्मी लिये रहता। मस्तिष्क अपनी विभिन्न अवस्थाओंसे संघर्ष कर रहा था। कभी एकदम शीतल और कभी एकदम उष्ण। कभी वह एक ही जगह बैठा रहता। सपने—सपने और सपनोंके सिवाय उसके पास कुछ नहीं रह गया था। लाल बाग़में सुने भाषणोंकी कल्पना वह किया करता। संघर्षके ये भाषण उसे बहुत पसन्द आते। वह भीतर-भीतर अविक्षिप्त था, बाहर-बाहर विक्षिप्त था।

एक दिन एक लम्बी-सी लाठी वह कहींसे उठा लाया। उसे कंधेपर रखे बीच सड़कपर खड़ा हो गया। फिर स्वयं फ़ौजी कवायदके आदेश चीखकर उनका पालन करने लगा। पहले 'अटन्शन' चिल्लाकर लाठी कंधेपर रखी, सलामी दी। उसे बन्दूककी तरह तानकर नीचे बैठ गया

और लगा 'फ़ायर' पर 'फ़ायर' के ऑर्डर देने ! दर्शक तालियाँ बजाने लगे। फिर तपाकसे वह उठ खड़ा हुआ, सलामी दी और 'कुइकमार्च' गुँजाकर चाल चौगुनी कर दी।

मुहल्ले-मुहल्लेमें वह प्रसिद्ध हो गया !

जब उसकी लाठीपर गूँजते 'फ़ायर' बहुत बढ़ गये, तो एक दिन उस मुहल्लेके सूबेदारने उसे पीछेसे आकर पकड़ लिया और अशरण-शरण कानूनकी छायामें ले गया।

'अबे, तू क्या करता है ?'

'कुछ नहीं।'

'फिर, खाता क्या है ?'

'कुछ नहीं।'

'तेरा नाम क्या है ?'

'कुछ नहीं।'

'कहाँ रहता है ?'

'सड़कपर।'

—आवारागर्दीमें उसे गिरफ्तार कर लिया गया।

जेलमें समरथको बड़ा अच्छा लगा। जगह बहुत तंग और छोटी थी, पर उस छोटी जगह रहनेवालोंके दिल उतने तंग न थे, जितने बड़ी जगह रहनेवालोंके होते हैं। समरथ जल्द ही सबसे हिलमिल गया। कितने भोले और सीधे लोग हैं वे ! उनमेंसे कुछने कुछ अपराध ज़रूर किये थे, परन्तु अधिकांश निरपराध थे—जो उसकी तरह 'कुछ न करनेके लिए' पकड़ लिये गये थे। न्यायपतिने सबसे एक ही प्रश्न पूछकर स्वयं ही उत्तर दिया था—'कुछ नहीं करता, तो साला खाता किधरसे ?'

और समरथ अपने साथियोंसे कहता—

"कहें भीख माँगकर—तो बम्बई में भीख माँगना भी जुर्म। लेकिन वे, जो भीख माँगनेके लिए लोगोंको मजबूर कर रहे हैं, उनके लिए कोई क़ानून और कोई सज़ा नहीं। क़ानून अमीरोंकी शांतिके लिए है, ताकि हमारे क्रन्दन और क्रोधसे उनके आराम में खलल न पड़े! रोटीकी हमारी माँगें उन्हें कर्णकटु लगती हैं। उन्हें यह समझ में नहीं आता कि रामराज्य में कोई भूखों भी मर सकता है! कहते हैं, ये लोग "कुछ काम क्यों नहीं करते, आखिर हम भी तो दिन भर काम करते हैं!"

जेलमें समरथने दस्तकारी सीखी। अपने अपढ़ साथियोंको अक्षर-ज्ञान दिया। दस्तकारीसे उसके पास तीस रुपये जमा हो गये! अवधि पूरी होने पर वह छूट गया।

जजने छोड़ते हुए कहा—"आगे गुंडागीरी मत करना माँगता। कुछ काम करने सकता। काम करो।"

समरथ क्या कहता? सो चुप रहा। मन ही मन मुसकराया और बाहर आया।

दरवाज़े पर पीपल सूख गया है। जामुनका पेड़ बड़ा हो चला है। खपरैल पिछली आँधी-बरखामें उड़ गई लगती है। कजरी गैयाकी ठठरियाँ निकल आई हैं—फिर भी, वह आदमीको पहचानने में बम्बईके लोगोंसे अधिक कुशल और सदय है। जब रँभाने लगी तो समरथसे न रहा गया, उसके गलेमें दोनों बाँहें डाल दीं।

वृद्धा अपने, हड्डियाँ-निकले-जवान बेटेका चेहरा देखकर थम-थमकर रो रही थी, जैसे किसी अबलाकी लहराती फसल पर पाला पड़ जाये! नैन नीचे किये प्रान पास में खड़ी थी, वह न राज़ी थी, न नाराज़ थी। बस, उसके दिलमें कुछ-कुछ हो रहा था। वह कहना चाहती थी—'हम कहें... बरज दिया था, हम कहें न जाओ...'

समरथ बोला—"न रो माँ, और यों न देख प्रान ! कुशासनकी वेदी पर बलि होने वाले हमीं अकेले नहीं हैं। देशके मरघटपर परिवारके परिवार मिट रहे हैं ! जो सरकार अपने बच्चोंको रोटी नहीं दे सकती; वह उन्हें 'कुछ भी' करने को मजबूर करती है, और दुनियाका कोई भी कानून उन्हें दोषी नहीं बता सकता।"

माँको समरथ इस बार अधिक पागल लगा।

फिर भी माँ, बेटा और प्रान—इसलिए जी रहे थे कि वे अपनी मिट्टी पर खड़े थे। उनके शरीर सूखे थे और पेट खाली थे। उनकी विषमावस्था पर सूखे नीमपर रहने वाला अर्थ-पिशाच अट्टहास कर रहा था ! उसे कदाचित् इन्सानकी संघर्ष-परम्पराका बोध नहीं था, इसीलिए वह हँस रहा था।

मोहन राकेश

कबीरपंथी वृत्ति और विषम परिस्थितिके द्वन्द्वने मोहन राकेशके कथाकारको जन्म दिया है। अभी सोलहवें वर्षमें क़दम रखा था कि पिताका साया उठ गया। फिर जो अराजक संघर्षका दौर शुरू हुआ वह आज भी समाप्त होनेका नाम नहीं लेता। जन्म अमृतसरमें सन् १९२५ में हुआ, संस्कृतमें एम. ए. कर छात्रवृत्ति पाई, दो साल होटलोंमें तफ़रीह करते रहे, एक साल फ़िल्मोंके चक्करमें बिताया; बेकारीके कमर तोड़ देनेपर, जीविकोपार्जनके सिलसिलेमें बहते हुए तिनकेकी तरह, इन नौ वर्षोंमें, अनेक किनारे छुये। सम्प्रति डी. ए. वी. कॉलेज जालंधरमें प्राध्यापक नियुक्त हैं।

किन्तु ये नीरस तथ्य, उस व्यक्तिके जीवन और चरित्रका चित्रण करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं, जिसका घर कहीं भी न होते हुए सर्वत्र है; जो स्थायी रूपसे विस्थापित है, पर फिर भी निराधार नहीं; और जिसकी रचनाओंमें उसका अपना व्यक्तित्व परोक्ष रूपमें इस क़दर विद्यमान रहता है कि उसकी कहानियाँ पढ़ यही अनुभूति होती है मानो जाड़ेकी किसी कुहरीली रातमें अलावके पास बैठे कोई क़िस्सा सुन रहे हों। मोहन राकेशकी कहानियोंको विशेषणोंकी अपेक्षा नहीं—वह सच्चे मानोंमें कहानियाँ हैं और कुछ नहीं। कदाचित् यही कारण है कि मोहन राकेश नये कहानीकारोंमें अग्रणी हो गये हैं।

आपका एक यात्रा-वर्णन 'आख़िरी चट्टान तक' और दो कहानी-संग्रह 'इन्सानके खण्डहर' तथा 'नये बादल' प्रकाशित हो चुके हैं।

• वासनाकी छायामें

—मोहन राकेश

यह जालन्धर है।

मुझे इस बातसे सरोकार नहीं कि यह शहर कितना पुराना है, और यहाँ कौन-कौन-सी तरकारियाँ पाई जाती हैं। मेरा इस शहरसे इतना ही वास्ता है, कि मैं यहाँ हूँ और यहाँ रहते हुए इस शहरका एक नागरिक हूँ।

मैं जालन्धरका नागरिक हूँ क्योंकि नागरिक होनेके सभी कष्ट आजकल यहाँ रहकर झेल रहा हूँ। सवेरे-शाम ग्रांडट्रंक रोडकी धूल फाँकता हूँ। दूधकी बजाय दो आने गिलास वाली चाय पीता हूँ। घरसे दफ्तर तक पहुँचनेके लिए एक मील पैदल चलता हूँ और दो मील बसमें जाता हूँ। यही मेरी नागरिकता है। जिस नगरमें यह नागरिकता ढोई जा रही है, उसका नाम है जालन्धर।

अजीब है। कहते हैं कभी कोई जालन्धर नामका राक्षस था। उसने यह नगर बसाया था। बसाया होगा। मुझे क्या? न बसाया होता तो मैं होशियारपुरमें रहता, लुधियानामें रहता या फगवाड़ामें ही जा बसता। जहाँ कहीं भी रहता, मेरा गढ़वाली नौकर रोटियाँ इसी तरह जलाता जैसे यहाँ रहकर जलाता है। पर खैर जी, राक्षसराज जालन्धरने यह नगर बसा दिया, और उसकी सन्तानने यहाँ गलियाँ बनवाईं, गलियोंमें घर बनाये, घरोंमें सूराख रखे, जिनसे धूलमें भुनी हुई हवा छन-छनकर उनके कोठरोंमें आती रहे, और उस हवासे गैस लेकर वे नई नस्लोंका निर्माण करते रहें, और राक्षसराज जालन्धरका नाम इतिहासमें नहीं, तो कमसे कम भूगोलमें ही अमर रहे।

दो-तीन दिन मैं पुष्पाकी बात सोचता रहा हूँ, जिसे उस दिन घरके सामने पम्पपर पानी भरते देखा था। पुष्पाकी आँखें मोटी कौड़ियों जैसी हैं। पहले दिन उसने दो-तीन बार आँख भरकर मुझे देखा, तो मुझे लगा था कि या तो मेरे बाल बहुत अधिक सफेद हो गये हैं या मैं अपनी आयुसे चार-पाँच साल छोटा लगता हूँ। नहीं तो कोई कारण नहीं था कि वह सहज विश्वास भरी दृष्टिसे मुझे देखती मानो कह रही हो; चलो, आँख मिचौनी खेलते हो ?

पुष्पाकी आयु तेरह सालकी होगी ? अधिक-से-अधिक चौदह साल होगी। उसका रङ्ग गोरा पञ्जाबी है। उसके शरीरको पूरा खिलनेमें अभी दो-तीन साल हैं। फिर भी उसकी आँखोंमें वह विस्मय भर गया है, जो यौवनका अर्थ पहले-पहल समझनेपर कुछ दिनोंके लिए रहता है। उसे आश्चर्य है कि क्या वह अकेली ही जानती है कि गुलाबका रङ्ग गुलाबी क्यों है ?

"पानी ले लीजिए" पुष्पाने अपनी बालटी हटाकर मुझसे कहा।

"नहीं तू भर ले !" मैंने इस विश्वासके साथ कहा कि वह मेरे सफेद बालोंका सम्मान कर रही है।

"आपको दफ्तर जाना है, भर लीजिए," उसने फिर कहा। मुझे खुशी हुई कि उसे मेरे अस्तित्वका पता है, काम-काजका पता है और उसका लिहाज़ मेरे सफ़ेद बालोंतक सीमित नहीं।

"तेरा नाम क्या है ?" मैंने अपनी बालटीमें पानी भरते हुए पूछा।

"पुष्पा" उसने सङ्कोचके साथ उत्तर दिया।

"किस श्रेणीमें पढ़ती है ?"

वह और भी संकुचित हो गई ! बिना मेरी ओर देखे बोली—"मैं स्कूल नहीं जाती।"

"क्यों ?" मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी अच्छी आँखोंवाली लड़की स्कूल क्यों नहीं जाती ? वैसे तो मैं किसी लड़कीसे लगातार तीन सवाल नहीं पूछता, क्योंकि वे इसे घनिष्ठता समझ बैठती हैं। पर पुष्पा अभी उस रेखासे दूर है, जहाँ जाकर एक लड़की मेरे लिए लड़की बन जाती है।

"मैं यहाँ नहीं रहती," पुष्पाने कुछ इस तरह कहा जैसे मेरा प्रश्न बिलकुल असंगत रहा हो। "मैं बापूके साथ गाँवसे आई हूँ। बापूको यहाँ काम है। काम हो जाये, तो फिर हम अपने गाँव चले जायेंगे।"

मैंने देखा कि उसकी आँखोंने अभी लजाना नहीं सीखा। उसके अन्दर अभी वही ताज़गी है, जो नई बहारकी गोभी में होती है। वह गाँवसे आई है और गाँव चली जायगी। वहाँ जाकर वह सरसोंके पीले-पीले फूलोंसे खेलेगी और मीठा नरम-नरम साग खायेगी। कोई रातको आगके पास हीर गायेगा, तो वह विभोर होकर सुनेगी। नहीं तो सरसराती हवाका गीत ही सही—वह उसके रोम-रोम में नींद भर देगा। वह अपनी अंगूरी आँखोंको तारोंकी किरणोंमें नहलाती हुई सो जायेगी।

सवेरे उठकर वह पशुओंको चारा देगी। प्रभातीके गीत उसे फुसलायेंगे, तो वह नंगे पैरों नदीकी ओर भाग जायेगी। वहाँ जब तक मन में आयेगा, तैरती रहेगी। फिर लौटती हुई धानके खेतसे मूलियाँ और शलजम उखाड़ती लायेगी। उसके गीले बाल रूखे ही सूख जायें, तो सूख जायें। उसके फूटते हुए वक्ष चाहे उसकी कमीज़में कटोरियाँ-सी निकाल दें, उसकी आँखोंकी माधुरी रस घोलती ही रहेगी। वह गणितके प्रश्नोंसे नहीं उलझेगी। वह भूगोलकी रेखाएँ नहीं याद करेगी। वह कोष लेकर कविताओंके अर्थ नहीं ढूँढेगी। वह जिधर देखेगी, उधर कविताएँ बिखर जायेंगी।

अचानक मैंने देखा कि मैं पंप चलाये जा रहा हूँ, हालाँकि बालटी भर चुकी है और पानी इधर-उधर बिखर रहा है। अपनी अन्यमनस्कता

छिपाने और पुष्पाके सौजन्यका बदला चुकानेके लिए मैंने अपनी बालटी उठाई और उसका सारा पानी पुष्पाकी बालटी में डाल दिया।

"ऊई!" मैंने उसे कहते सुना। "मेरी बालटी छू गई।"

"छू गई?" मैंने कुछ लज्जित और अपमानित होकर पूछा। यह नहीं कि मेरा पहले कहीं तिरस्कार नहीं हुआ। तिरस्कार तो प्रायः हो जाता है, पर वहीं, जहाँ मैं अपने तीनके पाँच करता हूँ। वहाँ मुझे तिरस्कारकी आशा भी रहती है। पर उपकारके बदले तिरस्कार मुझे उतना ही चुभता है जितना तिरस्कारके बदले उपकार।

पुष्पाने शायद मेरे छिले हुए भावको भाँप लिया, क्योंकि उसने क्षमा माँगनेके ढंगसे कहा—"मैं बालटी माँजकर लाई थी। आपकी बालटी मँजी हुई नहीं थी।"

यह सुनकर मेरी आत्मा पुनः उदार हो गई। मैंने मन में दोहराया कि बालटीको राखसे मला जाये, तब जाकर वह पवित्र होती है। फिर चाहे ग़लीज़ फ़रशपर रखकर उसमें पानी भरो, चाहे चबाई हुई दातुनोंके ढेरपर।

"मेरी बालटी मँजी हुई थी। मैंने सवेरे माँजी थी," मैं झूठ बोला। झूठ बोलना मेरी आदत है। बिना कारणके झूठ बोलता हूँ। दिनमें कई-कई बार बोलता हूँ। यह मुझे अच्छा लगता है। मैं आपसे सच कह रहा हूँ।

जो मुँहसे झूठ नहीं बोलता, वह मनमें झूठ बोलता है। जो मनमें झूठ बोलता है, वह मुझसे ज्यादा खतरनाक है। क्योंकि वह सचका दावेदार है, इसलिए वह और भी झूठा है।

मेरे झूठका परिणाम ठीक निकला। पुष्पाने विश्वास नहीं किया। झूठ बोलनेका सबसे बड़ा लाभ यह है कि लोग उसपर विश्वास नहीं करते। पुष्पाने मुसकराकर बालटीका पानी गिरा दिया और ज़मीनसे

मिट्टी उखाड़कर बालटीको मलने लगी। मैं अपनी बालटीमें फिरसे पानी भरने लगा।

किसीने दूरसे पुष्पाको पुकारा, "पप्पी!"

"आई बापू!" उसने पुकारका उत्तर दिया।

"पानी नहीं भरा?" आवाज़ आई।

"नहीं बापू!" उसने उत्तर दिया।

"जल्दी कर, सिरमुंडी!"

मैंने उधर देखा तो एक लंबा बूढ़ा जाट एक कोठीके बरामदेमें खड़ा सिरपर पगड़ी लपेट रहा था। एक तो उसकी आवाज़ ही कर्कश थी, दूसरे उसकी सफ़ेद दाढ़ी ऐसी नोकदार थी, जैसे उसीसे वह मुर्गियाँ झट-कता रहा हो! उसकी आँखोंका रंग बतलाता था कि उसने रातको खूब शराब पी थी, क्योंकि नशा अभी तक उसकी पुतलियोंमें तैर रहा था। पगड़ी लपेटकर उसने दाढ़ीपर हाथ फेरा और पुनः पुष्पाको आवाज़ दी—"जल्दी कर, लाड़की बच्ची, नहीं तेरा झोंटा सेकूँ।"

यह देखकर कि मेरी बालटी अभी आधी भरी है, मैं जल्दी-जल्दी पंप चलाने लगा। जाटने पीठ मोड़ ली। पुष्पा मेरी ओर दो कौड़ियोंका एक दाँव फेंककर मुसकराई। उसकी मुसकराहटने मुझसे कहा—तुम बेव-क़ूफ़ हो। बापूकी गालियाँ बेटीको नहीं लगा करतीं।

उसके बाद दो-तीन बार मैंने पुष्पाको देखा। न जाने क्यों उसे देखकर मुझे गहरे लाल रंगके मखमली फूल याद आ जाते। उन फूलोंको मैं बचपनमें अपने कोटपर लगाया करता था।

दो-तीन बार पुष्पाके बापूको भी मैंने देखा—दातुन करते, जूड़ा बाँधते या गालियाँ बकते उसकी मुझपर कुछ ऐसी छाप पड़ी, जैसे बर-सात होकर हटी हो, और पुराने गले हुए टीनके छप्परपरसे महीनोंका सूखा बीट पानीके साथ गल-गलकर टपक रहा हो।

आज दफ्तरसे लौटते हुए मैं अड्डा नकोदरसे फरलाँग भर ही आया था कि मैंने देखा सफ़ेद दाढ़ीवाला वह जाट मुझसे दो क़दम हटकर साथ-साथ चल रहा है। मैं जरा तेज़ चलने लगा। वह भी तेज़ चलने लगा। मैंने चाल धीमी कर दी। उसने भी चाल धीमी कर दी।

मुझे यह कभी सहन नहीं कि मैं किसीके साथ चलूँ, क्योंकि जिसके साथ मैं चलता हूँ, वह अपेक्षा करता है कि मैं उसीकी तरह चलूँ और उसीकी तरह सोचूँ। पर कोई मेरे साथ चले तो यह मुझे भला लगता है, क्योंकि वह मेरी तरह चलता है और अपनी तरह सोचता है।

"कहाँ चल रहे हो, बाबूजी?" पुष्पाके बापूने मेरा ध्यान अपनी ओर खींचनेके लिए पूछा।

"मॉडल टाउन," मैंने इस अन्दाज़में कहा कि वह जान ले कि मैं एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ, और सिर्फ़ इसलिए पैदल चल रहा हूँ कि मुझे संध्याके समय पैदल घूमनेका शौक़ है।

"हम भी वहीं चल रहे हैं। डाक्टर गुरबख्श सिंह मदानको जानते हैं? वह हमारे ही गाँवके हैं। शहरमें आकर हमारा उन्हींके घर डेरा होता है।" फिर मेरे बराबर आकर वह बोला, "चलो राह चलते एकसे दो भले।"

मैंने कहना तो चाहा कि मेरे साथ चलनेमें उसे चाहे लाभ हो, उसके साथ चलनेमें मुझे कोई लाभ नहीं; पर इसलिए नहीं कहा कि कहीं दोआब का जाट जोशमें आकर मेरे सिरका पंजाब बना दे।

"आप इधरके ही हैं?" जाटने अब परिचय बढ़ानेकी चेष्टा की।

"नहीं," मैंने उत्तर दिया।

"आप जालन्धरमें कबसे हैं?" मेरे साथ चलते हुए जाटने फिर पूछा। मैंने उचित समझा कि वह जितने सवाल पूछ सकता है, उन सबका

उत्तर एक साथ ही दे दूँ, ताकि उसकी जिज्ञासा पूरी तरह शान्त हो जाय। इसलिए मैंने कहा:—

"मैं दो महीनेसे यहाँ हूँ। सेक्रेटेरियटमें असिस्टेण्ट सुपरवाइज़र हूँ। वेतन एक सौ बीस रुपये हैं। ऊपरी आमदनी हो जानेकी आशा है। अभी ब्याह नहीं हुआ। लड़की देख रहा हूँ। पढ़ाईकी चौदह जमातें पास की हैं। तरकारियोंमें मुझे गोभी पसन्द है। फलोंमें मैं आम पसन्द करता हूँ। हर इतवारको शरीरपर कड़वे तेलकी मालिश करता हूँ। मेरी रोटी एक गढ़वाली पकाता है। उसकी उमर चालिस साल है। मेरे बरतन उसकी लड़की मलती है। उसकी उमर बीस साल है।"

यह सब उसे सुनाकर मैंने मनमें कहा: अब पूछ ताऊ, क्या पूछता है?

पर जाटने फिर पूछा ही, "क्यों, जी, गढ़वालीने अभीतक लड़कीका ब्याह नहीं किया?"

यह सीमा थी। पर मैंने धैर्य नहीं छोड़ा जहाँ बिगड़ैलसे वास्ता पड़े, वहाँ मैं धैर्य नहीं छोड़ता। सन्तोष-असन्तोष अपने घरकी चीज़ है। पर पीठका दर्द जाकर डाक्टरको दिखलाना पड़ता है। मुझे अपनी आत्मापर इस बातका गर्व है कि वह हवाका रुख देखकर फौरन तिरछीसे सीधी हो जाती है। मैंने जाटका प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक समझकर उसका स्वाभाविक-सा उत्तर दिया, "उसकी लड़की विधवा है।"

"अच्छा, जी, विधवा है। फिर तो वह उसे दूसरी जगह बिठायेगा?"

मैं इतिहासका विद्यार्थी होता, तो गढ़वालीसे पूछ सकता था कि वह अपनी लड़कीको दूसरी जगह बिठायेगा या नहीं? पर इतिहासमें मेरी रुचि तैमूरलङ्गकी लड़ाई तक ही रही है, उससे आगे नहीं। फिर भी जाटको तो उत्तर देना ही था। उसकी मूँछोंके बाल अँगड़ाइयाँ लेने लगे थे। मैंने रास्ता काटनेकी नीयतसे कहा, "वह देखभाल तो कर रहा है। आगे लड़कीकी तकदीर है।"

"लड़की देखनेमें अच्छी है ?" जाटने पूछा।

"देखनेमें भी अच्छी है, और स्वभावकी बहुत मीठी है।" मैंने यह इसलिए कहा कि कम-से-कम बातमें तो रोमांस रहे।

"अच्छा, जी ?" जाट बोला, "सच पूछो तो सबसे बड़ा गुण यही है। काम अच्छा करती है ?"

"काममें वह सुस्त है। हाँ, बातें बहुत करती है।"

"अच्छा, जी ?" जाट बोला। "रगोंमें जवानी हो तो काम नहीं सुहाता।"

उसकी टिप्पणीका मज़ा लेते हुए मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आँखोंमें भूखी बिल्लीकी-सी जलन थी। उसके होंठ बूढ़ी वासनाकी लारसे गीले हो गये थे। उसका रसभङ्ग करनेके लिए मैंने रुककर जूतोंको झाड़ा और कहा, "इन कच्चे रास्तोंपर, सरदार जी, जूतोंका तो कचूमर निकल जाता है।"

जाटने मेरे अभिनय और शब्दोंकी ओर ध्यान नहीं दिया। अपनी ही धुनमें कहा, "बाबूजी, आज आपके गढ़वालीसे मुलाकात हो सकती है ?"

"क्यों ?" मैंने उसकी ओर देखकर पूछा। मुझे लगा कि वासनाकी लार चू-चूकर जम गई है और इन्सानके आकारमें धरतीपर रेंग रही है। अगर इसे आग दिखा दी जाये, तो यह यहीं पिघलकर तेल हो जाये।

"मुझे एक जमींदारनीकी ज़रूरत है, बाबूजी," जाटने कहा। "मैं जमींदार हूँ। पासके गाँवमें मेरी चार एकड़ जमीन है। पाँच एकड़ जमीन जिला करनालमें है। मैं यहाँके गाँवका नम्बरदार हूँ। घरवाली मर गई है। एक जवान लड़की है। उसका ब्याह कर दूँ तो मेरी देख-भाल करनेवाला नहीं। घरमें एक गाय और दो भैंसें हैं। घरवाली आ जाये तो उनका चारापानी हो जायेगा, और मेरी भी दो रोटियाँ हो जायेंगी।" फिर उसने

मेरी बाँह पकड़कर मिन्नतके लहजेमे कहा, "आपके गुण गाऊँगा, सरकार, मेरा यह काम ज़रूर करा दीजिये।"

वह बोल रहा था तो उसके शब्दोंकी गूँज अपना अर्थ मुझे और ही तरह समझा रही थी। वह कह रही थी; मुझे औरतके गरम मांसकी जरूरत है, बाबूजी। मैं बूढ़ा चाहे हूँ, पर मेरे अकेलेके पास नौ एकड़ ज़मीन है। घरमें गाय, भैंस और सब कुछ है, सिर्फ़ औरत ही नहीं है। मेरी अपनी हड्डियोंपर गरम मांस नहीं रहा, पर बूढ़ी हड्डियाँ गरम मांसका चारा अब भी माँगती हैं। इनके लिए चारा चाहिए, सरकार। एक ग़रीबकी जवानीका भुर्ता कर दीजिये।

किसी तरह गला छुड़ानेके लिए मैंने जाटसे कहा—"गढ़वाली पंजाबियोंके साथ ब्याह नहीं करते, सरदारजी। उसका बाप उसे किसी गढ़वालीके ही घर बिठायेगा।" मेरी बात सुनकर जाट ज़रा ढीला हो गया। उसके मूँछोंके बाल, जो अब तक अँगड़ाइयाँ ले रहे थे, अब सुस्त होकर बैठ गये। वह ठंढी साँस लेकर बोला—"कहीं भी कामयाबी नज़र नहीं आती। लोग कहते थे कि रिफ्यूजी कैम्पोंसे मिल जाती हैं। पर मैं सवा सालसे चक्कर लगा-लगाकर हार गया, कोई नहीं मिली। डाक्टर साहबने एक पहाड़न चार सौ में ठीक की थी, वह मेरा दाढ़ा देखकर मुकर गई।"

"पर तुमको तो घरकी देख-भालके लिए ही ज़रूरत है न, सरदार जी?" मैंने कहा—"एक नौकर क्यों नहीं रख लेते?"

"नौकर उतना काम नहीं दे सकता, बाबूजी! ज़मींदारका घर है। चार आनेवाले, चार जानेवाले। फिर सेवाके लिए एक गाय, दो भैंस। इतना कुछ तो घरवाली ही सँभाल सकती है।"

"तो तुम चाहते हो कि जवान लड़की आकर तुम्हारे गुर्दे भी ठीक करे और तुम्हारी गाय भैंसोंका दूध भी दोहे?"

"वह क्यों दोहे, सरकार, वह आरामसे बैठे। दूध दोहनेको हम क्या मर गये हैं?"

यह उसकी सौदेबाज़ी थी। इन्सानकी सौदेबाज़ी आदमके कालसे यों ही चली आ रही है। धरती फल-फूल और धान उगलती है, वह उन्हें उखाड़ लेता है और सौदा करता है। धरती धातु-पत्थर छिपाकर रखती है, वह उन्हें खोद लेता है और सौदा करता है। और वह न चले, तो धरतीका सौदा करता है। वह भी न चले, तो अपना ही सौदा करता है।

यह आज़मानेके लिए वह अपने आपको कहाँ तक सौदेमें डालता है, मैंने उपदेशके रूपमें कहा, "इस उमरमें कोई मिलेगी भी तो ऐसी ही मिलेगी, सरदारजी, जो पहले कई घरोंमें घूम चुकी हो, और जिसे दूसरा ठौर ठिकाना न हो। ऐसीको घरमें डाल लोगे?"

मैंने देखा जाटकी मूँछोंके बाल फिर अंगड़ाइयाँ लेने लगे हैं। उसने आगे बढ़कर मेरी बाँह पकड़ ली और बोला—"आपके पास है बाबूजी? ज़रूर आपके पास कोई है।"

मैंने नहीं सोचा था कि मेरे शब्दोंका यह अर्थ निकल सकता है। थोड़ा भद्दा पड़कर मैंने स्पष्ट करनेके लिए कहा—"मेरा यह मतलब नहीं सरदारजी, कि मेरे पास कोई है। मैं तो केवल बातके लिए बात कर रहा हूँ।"

"नहीं, बाबूजी, आपके पास ज़रूर कोई है।" जाटने विनय और अनुरोधके साथ कहा। मेरी पगड़ी अपने पैरोंपर समझो और मेरा काम करा दो। दो चार सौ मैं आपके सिरपर वार दूँगा—एक बार अपने मुँहसे कह दो कि है।"

मैंने जाटको फिर सिरसे पैर तक देखा। उसकी भौंहें सफ़ेद हो रही थीं। आँखें छोटी होकर केवल दाग़ रह गई थीं। गालोंका माँस लटक आया था। दाँत आधे टूट चुके थे। जो दाँत शेष थे, उनकी जड़ों में लहू रिस-

रिसा रहा था। बोलते-बोलते उसका थूक दाढ़ीके सफ़ेद बालोंमें फैल गया था फिर वह मुझसे विश्वास माँग रहा था कि मैं कह दूँ कि है—एक नारी है जो उसके लिए चारा बन सकती है, जो अपना यौवन राँधकर उसे खिला सकती है, क्योंकि वह ज़मींदार है और उसके घरमें एक गाय और दो भैंसें हैं, उसकी हड्डियोंमें जितना ज़ोर है, उससे कहीं अधिक उसकी गाँठ में पैसा है।

"बोले नहीं, बाबू जी ?" जाटने व्याकुल उत्सुकताके साथ पूछा।

"मैं किसीको नहीं जानता, सरदार जी" मैंने धीरेसे उत्तर दिया।

मॉडल टाउन अब सामने ही था। पक्की सड़कपर आकर मेरी नज़र पुष्पापर पड़ी, जो बरामदे में खड़ी शायद अपने बापूकी प्रतीक्षा कर रही थी।

मुझे फिर लाल फूल याद हो आये। मैंने जाटकी ओर देखकर पूछा—"तुम अभी कुछ दिन तो हमारे पड़ोसी हो न, सरदार जी ?"

"नहीं जी, हम कल गाँव जा रहे हैं," जाटने कहा। "यहाँ अब किसके भरोसे बैठे रहें ? वहीं चलकर देखभाल करेंगे और नहीं तो बदले में तो लड़की मिल ही जायगी।"

"बदले में कैसे ?" मैंने हैरान होकर पूछा।

"गाँवका रिवाज है, बाबू जी। बराबरकी उमरके वर हों, तो वहाँ दो घर आपस में लड़कियाँ बदल लेते हैं। मैं जाकर अपने जैसे ही कोई घर देखूँगा।"

मैंने देखा, पुष्पा प्रतीक्षा कर रही है। बापू जो गाली देता है वह गाली उसे नहीं लगती। पर बापू जो गाली नहीं देता, वह गाली उसे लग रही है।

सत्येन्द्र शरत्

१९४९ में प्रयाग विश्वविद्यालयसे एम० ए० की डिग्री लेकर बीस वर्षीय सत्येन्द्र शरत्ने महसूस किया कि हिन्दुस्तानी फ़िल्मोंका उद्धार किये बिना निस्तार नहीं। सो 'प्रतीक' द्वैमासिकके (जिसके वह सहायक सम्पादक थे) बन्द होनेपर वह १९५० में फ़िल्मोंकी मायानगरी बम्बई जा पहुँचे। चार वर्ष वहाँ झक मारी; 'ज़िन्दगीको विभिन्न एङ्गल्ससे लिए विभिन्न क्लोज़-अप्समें देखा'; तथा एक असफल फ़िल्म (नाज़) और एक सफल फ़िल्म (पहली झलक) के असिस्टेण्ट डायरेक्टर रह १९५४ में वापस लौट आये। शरण-स्थल बनाया आकाशवाणीके दिल्ली-केन्द्रको, जहाँ आजकल नाटक लिखते हैं और उन्हें निर्देशितकर हवामें उड़ा देते हैं। यह काम कबतक मन बाँध रखेगा, ये कहना कठिन होगा; क्योंकि इससे पहले किये गये सभी पेशे—क्लर्की, टेलीफ़ोन ऑपरेटरी, सहायक सम्पादकी मन देरतक बाँध रखनेमें असमर्थ रहे हैं।

कहानियाँ लिखनेसे अधिक कहानियाँ पढ़ने और उन्हें याद रखनेका शौक़ है। ये शौक़ न होता तो प्रस्तुत संग्रह कैसे तैयार होता? अबतक दो कहानी-संग्रह 'नील कमल', 'कुहासा और किरण' एक एकांकी-नाटक संग्रह 'तारके खम्भे, और एक नाट्य-रूपान्तर 'कुन्दमाला' प्रकाशित हो चुके हैं। हास्य-रसके नटखट नाटकोंका एक संग्रह 'करेंसी नोट' प्रेसमें है।

• हमपेशा

—सत्येन्द्र शरत्

अमलसे कहा गया था कि वह इन्तज़ार करे, सो वह बैठा इन्तज़ार करता रहा।

इस तमाम दौरानमें वह क्या-क्या सोचता रहा, अब इस सबका उल्लेख तो फ़िजूल है; क्योंकि उतनी देरमें न जाने कितनी बातें, कितने विचार, कितनी स्मृतियाँ उसके दिमाग़में उछल-कूद मचा एक ओरसे दूसरी ओर निकल गईं। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि अमल की उस दिमाग़ी हलचलका यदि नकशा बनाया जाता तो 'कर्व' बड़ा बाँगा-तिरछा और गोरखधन्धे-नुमा बनता।

उन कलाकार महोदयका चित्र अब भी उसी तरह दीवारपर मौजूद था—उसी तरह खिलखिलाकर हँसता हुआ। अमलने ज़रा उस तरफ़ देखा और खट्से अपनी दृष्टि हटा ली। क्या ठीक है? उस दिनकी तरह कमबख्त फिर आँख मार दे? या मुँह बनाकर चिढ़ाने लग जाय?...आज वह उन कलाकार महोदयको ऐसा अवसर ही न देना चाहता था, क्योंकि वह अपनी हार स्वीकार कर चुका था। अगर स्वीकार न करता तो चालीस ही रुपयेपर अपने उन तीनों पेंसिल-स्केचोंको भार्गवजीके पास बेचने न आता। उस दिन तो वह बड़ी शानसे (हालाँकि रास्तेमें रोते हुए) अपने स्केचोंको वापस ले आया था। लेकिन एक सप्ताहके अन्दर ही अन्दर उसे मजबूर होकर उन्हें भार्गवजीके पास बेचने आना पड़ा था। (उसके छोटे भाईका पत्र आया था कि अमल फ़ौरन ही तीस रुपये भेज दे—कॉलेजकी फ़ीसके लिए। अब अधिक नहीं टाला जा सकता। तीन माह हो गये हैं—अब

नाम कट जायगा। और तब अमलको विवश हो अपनेको तोड़ना पड़ा था। विवशता कितनी बड़ी चीज़ है!......)

उस दिनकी तरह आज मिसेज़ भार्गव नीचे नहीं आईं—अमल सोचने लगा। शायद हैं नहीं इस समय कोठीमें...तभी उसे ख्याल आया, आज सुबह उसने अखबारमें देखा था—शामको मिसेज़ दत्तके बँगले पर 'होम डेकोरेशन क्लब'की मीटिंग है। 'ठीक है। वहीं गई होंगी!' उसने मन में आप ही आप कहा और सोफ़ेपर बड़े इतमीनानसे पीठ टिका ढुलक-सा गया।

अचानक उसे किसी साड़ीकी सरसराहट सुनाई दी। मिसेज़ भार्गव आ गई हैं—यह ख्यालकर हाथोंको नमस्तेकी रिहर्सल कराते हुए वह झटकेके साथ सोफ़ेसे उठ खड़ा हुआ और पीछे घूम गया। लेकिन उसी तेज़ीसे उसे अपने हाथ नीचे करने पड़े, क्योंकि आगन्तुका मिसेज़ मृदुला भार्गव बी. ए. नहीं, कोई और कुमारी जी थीं जो अपने में ही सिमटी-सिमटी-सी थीं, जैसे कोई उन्हें छूने जा रहा हो; और जो अमलको देख एक अनोखे अंदाज़से झेंपी थीं—इस अंदाज़से कि अमलके उस बुझे हुए से चेहरेपर मुसकराहटकी एक चंचल रेखा दौड़ गई थी और उसका चेहरा ठीक ऐसे ही चमक उठा था जैसे किसी छोटी-सी वर्षाके समाप्त होते ही सुहावनी-सी धूप निकल आई हो।

कुमारीजीके पीछे भार्गवजीका दरबान था—हुकुमके ग़ुलाम-सा। वह युवतीसे बोला, "आप यहीं बैठिये। बाबूजीके पूजासे उठते ही मैं आपकी खबर कर दूँगा। इतने आप बैठिये।"

युवतीने सिर भर हिलाया, जिससे उसके कानोंके बुंदे अत्यंत सुंदरता-पूर्वक हिल उठे और साड़ी सँभालती हुई वह बड़े एहतियातसे सोफ़े पर बैठ गई।

युवती काफ़ी सुंदर थी। साथ ही कुछ फ़िल्मी फ़ैशनके साथ सजी हुई थी। अमल कुछ देर तक उसकी ओर देखता रहा— सरसे पैर तक। "कॉलेजी गुड्डी" बहुत निष्कर्षमय ढंगसे तब उसने मन ही मन कहा और कुछ उपेक्षाके साथ अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

कॉलेजी गुड़ियाओंसे अमलको कोई ख़ास हमदर्दी नहीं है; बल्कि एक तरहसे उनके प्रति कुछ उपेक्षाका ही भाव उसके मनमें है। फ़ैशनेबल लड़कियोंको देख वह हमेशा मन ही मन कुढ़ा है। कपड़ों, बनाव-शृंगार और सिनेमा आदिके खर्चोंको देखिये तो लगता है कि इनके पिता छः सात सौसे कम तो क्या ही पाते होंगे——तभी तो घर-परिवारके खर्चोंको निपटाकर वह इनकी 'शिक्षा-दीक्षा'के लिए (या ज्ञान-प्राप्तिके लिए) सौ-डेढ़ सौ भेज पाते हैं, जिनकी होली या नुमाइश ये इस प्रकार करती हैं। साथ ही पोज़ इतना करेंगी कि बस!...और इस पोज़को देख अमल इन 'इण्टलैक्चुअल्स'की 'इण्टलैक्ट' पर हमेशा ही हँसा है। कितनी कमज़ोर भित्तिपर ये नेकबख्त गुमान करती हैं?...पिता (और विवाहके बाद पति)के पैसोंपर। कल यदि आयका यह साधन हट जाय तब?...फिर कैसे जीवनसे समझौता होगा?... तब शायद...(हटाओ जी, मैं भी क्या बेकारकी बातें सोच रहा हूँ?)...'दीज़ सोशल पैरेसाइट्स!' उसने युवती को देखते हुए आप ही आप गुनगुनाते-से स्वरमें कहा और फ़र्शपर बिछे क़ालीनके अंकनको देखने लगा।

"भार्गव जी कितनी देरमें नीचे आयेंगे?" यह प्रश्न सुन अमलने सिर ऊपर उठाया। देखा, प्रश्न उसीकी ओर डरते-डरते-से देखकर किया गया था। जाने क्यों उसकी उपेक्षा और घृणा जाग उठी; और उसने बहुत ही उजड्ड तरीक़ेसे लट्ठमार रूपमें जवाब दिया, "किसे मालूम साहब? मुझे कह कर तो वह पूजा पर बैठे नहीं थे कि इतनी देर तक पूजा करूँगा।

जब आयेंगे तब अपने आप ही पता चल जायगा। कोई सुई तो हैं नहीं वह, जो दिखायी न पड़ें !"

युवती अपनेको अपमानित-सी महसूसकर छतकी ओर जाने वाली सीढ़ियोंको देखने लगी। अमल उसी तरह निर्विकार भावसे (जैसे उसके लिए यह अत्यन्त साधारण बात हो) क़ालीनका अंकन देखता रहा। (यों मनमें खुश हो रहा था—क्या सिक्सर दिया है बहनको ! अब दौड़े न फ़ील्ड में !)

तभी ऊपरसे भार्गवजीकी गूँजती हुई आवाज़ सुनाई दी—"दर-बान !" और दूसरे ही मिनट वही आदमी—जो अमलको भी बैठा गया था और युवतीको भी—एक हाथसे पगड़ी सम्हालता हुआ, कुछ ऐसी बदहवासीके साथ दौड़ता हुआ सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, मानों ऊपर छतपर आग लग गई हो। तीन-एक मिनट बाद वह लौटा और अमलके निकट आकर बोला, "बाबूजीके सिरमें दर्द हो रहा है आज। नीचे नहीं आ सकेंगे। आप ही ऊपर चले चलिये। अपने सोनेके कमरेमें हैं।"

और कोई अवसर होता तो अमल अपने स्वभावानुसार अवश्य कहता, 'नो, लेडीज़ फ़र्स्ट !' लेकिन एक तो उसे कुछ जल्दी थी; और दूसरे कॉलेजी गुड़िया होनेके कारण उस युवतीके प्रति उसके मनका आक्रोश व तिरस्कार अभी तक दूर नहीं हुआ था, वह बिना उस युवतीकी ओर देखे खटाखट सीढ़ियाँ चढ़ गया।

अपने सोनेके कमरेमें भार्गवजी पलंगपर अधलेटे थे। अमलके उन्हें नमस्ते करनेपर बोले, "आइये कलाकार महोदय !"

अमल यह बिसरानेकी चेष्टा करता हुआ कि उसका नाम अमल है, और वह कलाकार है और वह मनुष्यके मनुष्यका शोषण करनेके सिद्धान्तसे घृणा करता है, पासके एक मूढ़ेपर बैठ गया। इस समय उसे केवल यही ध्यान रह गया था—छोटे भाईने पत्र भेजा है...फ़ीस देनी है...भार्गवजी

से किसी न किसी तरह रुपये लेने ही हैं......कितने भी सही...लेने ज़रूर हैं...

"तो फिर आपने सोच लिया है न कि आप मुझे स्केच दे रहे हैं...अंऽऽ चालीसमें।" भार्गवजी कुछ फुरसतसे बोले।

"जी हाँ, अच्छी तरहसे। तभी तो आया हूँ। मगर देखिये, रुपयोंका प्रबंध अगर आज ही हो जाय तो बड़ी मेहरबानी होगी।"

"हाँ हाँ, अभी लीजिये।" भार्गवजीने अत्यन्त तत्परतासे कहा। फिर नौकरसे बोले, "दरबान देखो, दूकानसे मुनीमजी आ गये हैं या नहीं?"

दरबान उसी प्रकार भागता-सा चला गया। भार्गवजीने आँखोंको विशेष प्रकारसे नचाते हुए कहा, "रुपयोंकी विशेष आवश्यकता हो तो आप दस-एक रुपये और ले जा सकते हैं—एडवांसके तौरपर। एक-आध स्केच हमें और दे दीजियेगा।"

अमल सिरसे पैर तक सुलग उठा। वह कोई तीखी बात कहने ही जा रहा था कि रुक गया। उसे अपनी मौजूदा परिस्थितिका ध्यान आ गया। एकदम शान्त हो वह धीमे स्वरमें बोला, "धन्यवाद। फ़िलहाल तो इतनेसे ही काम चल जायगा। छोटे भाईको भेजने हैं।"

"आपकी इच्छा" भार्गवजी मुँह बनाते हुए बोले, "मैं तो आपकी सेवा करना चाहता था।"

सेवा!...अमलको उस दुःखी मनःस्थितिमें भी हँसी आ गई। बोला, "आपकी कृपा बनी रहे। सेवाका धर्म तो हमारा है...आप क्यों कष्ट करते हैं?"

भार्गवजी इसपर हँस दिये।

दरबान इतनेमें लौट आया। उसने बतलाया—मुनीमजी आ गये हैं और रोकड़ मिला रहे हैं।

भार्गवजीने पास पड़े हुए एक कागज़पर—'चालीस रुपये दे दीजिये'—लिखकर कागज़ अमलको दे दिया और कहा, "जाइये, मुनीमजीसे ले लीजिये। उस तरफ़वाले कमरेमें हैं।"

"स्केच तो मैं दिनमें ही दूकानपर छोड़ आया था।" अमलने उठते हुए कहा।

"हाँ हाँ, उन्हें तो मैं दूकानसे ले भी आया हूँ।" भार्गवजीने उल्लास भरे स्वरमें कहा।

भार्गवजीको नमस्ते कर अमल कमरेके बाहर जा ही रहा था कि दरबान ने कहा, "जी एक, देवीजी भी मिलने आई हुई हैं। मैं तो बताना ही भूल गया था। नीचे बैठी हैं।"

"देवीजी ?" भार्गवजीने अपना चेहरा प्रश्न-चिह्नकी तरह बनाया। तब कहा, "यहीं बुला लाओ।"

न जाने क्यों अमलका कुतूहल जाग उठा। कमरेके बाहर निकल वह गैलरीमें कुछ आगे तक बढ़ आया और तब इधर-उधर देख आहिस्तासे एक स्थानपर अपेक्षाकृत अँधेरेमें खड़ा हो गया।

कुछ क्षण बाद वह युवती आई और कमरेके अंदर झिझकती-सी चली गई। पीछे-पीछे दरबान था। तभी अमलको भार्गवजीका भारी स्वर सुनाई दिया, "तुम बाहर बैठो जी। अगर कोई आये तो हमें खबर करना।"

दरबान कमरेसे निकल सीधा नीचे चला गया।

अमलने वहीं खड़े-खड़े सुना। भार्गवजी कह रहे थे, "कहिए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?"

युवतीने गुनगुने स्वरमें क्या कहा, यह अमल न सुन सका। थोड़े समय बाद भार्गवजीकी आवाज़ फिर सुनाई दी, "हाँ, वह तो नहीं हैं इस समय। क्लब गई हुई हैं। लेकिन आपको तो कोई पार्ट टाइम काम

चाहिए—सो उसका प्रबन्ध तो हो जायगा। हमारे पास तो हर तरहके काम हैं। लेकिन देखिए, आप इन फ़िज़ूलके झमेलोंमें क्यों पड़ती हैं? सर्विस करनेमें—चाहे वह पार्ट टाइम ही हो—बहुत तबालत होती है। आप देखिये न......"

इस बार युवतीका स्वर स्पष्ट सुनाई दिया, "जी हाँ, वह तो आप ठीक कहते हैं। लेकिन क्या किया जाय, परिस्थितियाँ कुछ ऐसी आ पड़ी हैं कि...पिताजी आजकल बीमार हैं और......"

"ठीक है। लेकिन परिस्थितियोंको तो दूसरे उपायोंसे भी अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।" भार्गवजीका स्वर सुनाई दिया, "कोई ज़रूरी है कि पार्ट टाइम सर्विस ही की जाय। आप और बहुत कुछ कर सकती हैं मसलन...मसलन..."

अमल अब और अधिक न रुका। 'हटाओ जी! उसने मन ही मन कहा, 'मरने दो'। वह किस-किसके रहस्य इकट्ठा करता फिरेगा?

आगे बढ़ वह सीधा मुनीमजीके पास पहुँचा जो अपने चारों तरफ़ नोटों और सिक्कोंकी ढेरियाँ लगाये गद्दीपर बैठे थे और उन्हें गिननेमें व्यस्त थे। कोई दस मिनट तो मुनीमजीने अमलकी ओर देखा ही नहीं। अमल मन ही मन उन्हें कोसता बैठा रहा। जब मुनीमजी पूरा हिसाब मिला चुके तब उन्होंने अमलकी ओर मुँह फेरा और उसके हाथसे काग़ज ले उसे ग़ौरसे देखने लगे। दस-दस रुपयेके चार नोट निकाल, अच्छी तरह गिनकर अमलको देते हुए तब वह बोले—अच्छी तरह गिन लो। और सामनेके काग़जपर "चालीस रुपये वसूल पाये" की रसीद लिख दो। तारीख़ भी डाल देना। दस्तख़त रेवेन्यू टिकटपर करना। अगर रेवेन्यू टिकट पासमें न हो तो इकन्नी निकालो, रेवेन्यू टिकट भी मिल जायगा। बिना रेवेन्यू टिकटके रसीद बेकार है—उतनी ही बेकार जितना बिना सिरके इन्सानका शरीर।

और इस सब क्रियासे फ़ारिग़ होनेमें अमलको दस-एक मिनट और लग गये। यानी चालीस रुपयेकी प्राप्तिमें बीस मिनट नष्टकर अमल बाहर आया और सीढ़ियोंकी ओर बढ़ने लगा। भार्गवजीके कमरेके निकट उसे उनका शिथिल-सा स्वर सुनाई दिया, "ये लीजिये। पच्चीस हैं। आवश्यकता होनेपर फिर आइयेगा...संकोच बिल्कुल न कीजियेगा...अच्छा नमस्ते।"

कुछ क्षण बाद कमरेका दरवाज़ा खुला और युवती घबराई हुई-सी बाहर निकली। अमलके क़दमोंकी आहटसे चौंक उसने पीछे घूमकर देखा। अमलको देख उसका चेहरा एकबारगी पीला पड़ गया और वह बेसाख्ता झेंप गई। उसके चेहरेपर ग्लानि और कातरताके कुछ ऐसे भाव अङ्कित हो गये कि पहलेकी तरह वह झेंप अमलके चेहरेपर मुसकराहट न दौड़ा सकी। अमलने देखा, उसके कपड़े और बाल आदि व्यस्त रूपमें थे। बिन्दी बिखर गई थी। चेहरेपर पसीनेकी बूँदें चमक आई थीं और ओठ खुश्क हो गये थे। अमलको अपनी ही ओर देखता पाकर मारे शर्मके उसकी गर्दन नीचे झुक गई। वह वहीं ठिठकी खड़ी रह गई। न आगे बढ़ी, न पीछे हटी।

अमलको लगा, जैसे अब वह रो देगी।

और अमलको न जाने क्या हुआ? उसका क्रोध, उसकी घृणा, उसका आक्रोश-तिरस्कार सब बह गया। अत्यन्त स्निग्ध भावसे मुसकराता हुआ वह आगे बढ़ा और उस युवतीके बिल्कुल नज़दीक खड़ा हो गया।

युवतीने बहुत साहसकर गर्दन ऊपर उठाई। उसके मुँहसे आश्चर्ययुक्त स्वरमें केवल इतना ही निकला, "आप!......"

अमलने उसी प्रकार मुसकराते हुए कहा, "आपका हमपेशा हूँ। मुझे सब पता है। अभी-अभी हम लोग अपनी आत्माएँ शैतानके पास बेचकर आये हैं। मैंने चालीस रुपयेमें अपनी आत्मा बेची है और आपने

शायद पच्चीसमें। मेहनत और शरीर तो बाहरी खोल हैं—बिकी आत्मा ही है। आप बेकार रंज कर रही हैं। हम लोग इस बिक्रीके लिए मजबूर थे। फिर ये रंज क्यों? मुझे देखिये, मैं तो बिल्कुल ठीक हूँ। आप ग्लानि और दुःखका ये भाव मनसे हटा दीजिये। हमारा कोई दोष नहीं है। दोष इस दोषपूर्ण व्यवस्थाका है जो व्यक्तिको ईमानदारीसे जीवन व्यतीत नहीं करने देती...उसके श्रमका उचित मूल्य नहीं चुकाती। खैर अब हटाइये। मनको स्वस्थ करनेकी कोशिश कीजिये। आखिर हम लोगोंके लिए इसके अलावा कोई चारा भी तो न था..."

युवती कुछ न बोली। केवल बड़े-बड़े आँसू उसकी आँखोंसे निकल नीचे गिरने लगे।

गैलरीमें कुछ गुनगुनाहट सुन और उसमें अमलका स्वर साफ पहचान कर भार्गवजी कुछ सशंकित भावसे दरवाज़ा खोल बाहर आये। गैलरीमें कोई न था। आगे बढ़ उन्होंने देखा, और हैरतसे उनकी आँखें खुलीकी खुली रह गईं—अमल युवतीको सहारा दिये नीचे सीढ़ियाँ उतर रहा था...